सत्साहित्य प्रकाशन

सुभाषित-सप्तशती

—वैदिक, संस्कृत तथा पालि-वाङ्मय से पठन और मनन करने योग्य प्रेरणाप्रद सुभाषितों का संग्रह—

संकलनकर्ता तथा सम्पादक

मंगलदेव शास्त्री



भूमिका

काका सा० कालेलकर

१९६०

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार १९६०
मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक
शान्तीलाल जैन
श्री[illegible] प्रेस
दिल्ली

समन्वयात्मक और प्रगतिशील
भारतीय सस्कृति के निर्माण
में तत्पर राष्ट्र-प्रेमियो
की सेवा में

प्रकाशकीय

उत्तम विचारों के पठन-पाठन और स्वाध्याय से प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास में बड़ी सहायता मिलती है। उसे पता चलता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है और किस रास्ते पर चलने से उसे स्थायी शान्ति और सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है।

संसार के सभी उन्नत देशों के साहित्य में अच्छे विचार मिलते हैं। हमारा भारतीय साहित्य विशेषकर प्राचीन साहित्य तो विचार-रत्नों की खान है। वैदिक संस्कृत और पालि वाङ्मय इस दृष्टि से अद्वितीय है।

सद्विचारों से हरकोई लाभ उठाना चाहता है लेकिन आज के युग में शायद ही कोई ऐसा सौभाग्यशाली व्यक्ति होगा जिसके पास उस सारे साहित्य का पारायण करने का अवकाश और क्षमता हो।

विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में प्राचीन वाङ्मय के चुने हुए सुभाषितों का संग्रह करके एक बहुत ही लोकोपयोगी कार्य किया है। लेखक का अध्ययन बड़ा गहन और व्यापक है और उसका अधिक-से-अधिक लाभ उन्होंने पाठकों को देने का प्रयत्न किया है। गागर में सागर भर दिया है।

हमें विश्वास है कि अनमोल विचार-मणियों से जगमगाती यह पुस्तक पाठकों के लिए बड़ी ही हितकारी सिद्ध होगी और सभी वर्गों के पाठक इसके नित्य पठन और मनन से लाभ उठायेंगे।

—मंत्री

सस्कृत संस्कृति की झांकी

प्राचीन काल से हमारी जाति सुभापितों की कदर करती आई है। क्योंकि एक-एक सुभाषित या तो जीवन क अनुभव का एकांगी या गहरा निचोड़ होता है या प्रेरणादायी—श्रद्धा का चंद चुने हुए शब्दो म टकसाली रूप देता है। लोक-कथाओं म जिक्र आता है कि एक-एक अच्छ सुभाषित के लिए रसिक राजा लक्ष-लक्ष मुद्रा प्रदान करते थे।

सुभाषितो के लिए राजमान्यता प्राप्त करना एक चीज थी लोक-मान्यता पाना दूसरी ही बात थी। राजमान्यता पान पर कवि का दारिद्र्य दूर हो सकता था। लेकिन लोकमान्यता पान पर ही कवि अमर होता था। शायद कवि या कवि का नाम अमर न भी हो कवि की कृति तो अमर हो ही जाती थी। संस्कृतसाहित्य में ऐसे हजारों श्लोक हैं या सूक्तियां हैं, जिनके कर्त्ता का नामोनिशान नहीं रहा है। समाजहृदय की यह सपत्ति है। और ऐसी सूक्तियां भी उस-उस समाज की संस्कृति का स्वरूप व्यक्त करती हैं। ऐसी समाजमान्य सूक्तियों का और कविता को म अपौरुषय कहता हू। 'गुमनाम' कहना मुझे पसंद नहीं है।

हमारे पास संस्कृत के जितन सुभाषित-संग्रह हैं वे सब काव्यरसिकों के द्वारा इकट्ठा किये गए हैं। उनम शुरू म देवताओं की स्तुति या प्रणति होगी। भिन्न-भिन्न कवियों की और सम्राटों की प्रशंसा होगी। बाद में षड्ऋतु का वणन होगा। अन्योक्तियां तो सुभाषित-संग्रहों का मुख्य भाग। हमारे संस्कृत कवि ऐसी अन्योक्तियों म अपना सारा चातुय उडेल देते हैं। शृंगार करुण आदि सब रस के नमून भी सुभाषित-संग्रहों म पाय जाते हैं। स्त्रियों के नख शिख-वणन तो होन ही चाहिए।

राज-व्यवहार और लोक-व्यवहार की बातें इतनी अच्छी होती हैं कि वही हिस्सा लोग ज्यादातर कंठ कर लते हैं। प्रहेलिका अपह्नुति आदि चित्रकाव्य को भी उसमें स्थान होता ही है।

इस तरह हर अभिरुचि के लोगों के लिए ऐसे संग्रहों में कुछ न कुछ स्वादिष्ट मसाला मिल ही जाता है।

लेकिन आज हम ऐसे संग्रह चाहते हैं, जिनमें हमारी संस्कृति का प्रतिबिंब दिख सके। जीवनानुभव जिनमें संचित है या उन्नत जीवन के लिए जिनमें प्रेरणा मिलती है ऐसे सुभाषित अगर इकट्ठा किये जाय तो शिक्षा क्रम में उनका अच्छा उपयोग हो सकता है। सारी जाति की विशिष्ट संस्कृति का सम्यक् स्पन्दन के लिए ऐसे संग्रहों का उपयोग हो सकता है। और व्याख्यान में उनका उपयोग करने से वाग्व्यापार को उन्नत रूप मिल सकता है।

शास्त्रवचनों के पीछे ऋषि-मुनियों के धर्मानुभव का प्रभाव होता है। सुभाषितों के पीछे जातीय हृदय की मान्यता होती है।

ऐसे नैतिक और उन्नत सुभाषितों के संग्रह की याचना मैंने समय-समय पर कई गुणी पंडितों से की। लेकिन उस याचना का स्वीकार तो पंडितवर मंगलदेव शास्त्री ने ही किया। जब-जब श्री मंगलदेव शास्त्री से मिला हूँ, उन्होंने मेरे ऊपर श्रद्धा बढ़ाई ही है। उम्र में वृद्ध होते हुए भी शरीर से वे आपाद [illegible] रहते हैं। वेदों का गहरा अध्ययन करते भी उनमें [illegible] नहीं आई है। और परलोकपरायण वेदान्तविद्या का अनुशीलन करते हुए भी [illegible] उनका आशावाद क्षीण हुआ नहीं है।

धारण क्यों न कर ? शास्त्रीजी को कल्पना पसद आई। मैंने उन्हें कहा कि ऐसे सग्रह में आपके रचे हुए आधुनिक ढग और आधुनिक विचार के श्लोक भी आन चाहिए, ताकि हमारा सग्रह अद्यतन कहा जा सके।

शास्त्रीजी न यथासमय यह सुभाषित-सप्तशती बना कर दे दी। इसम वेद, ब्राह्मण उपनिषद् के वचन भी हैं। और रामायण महाभारत भागवत और योगवासिष्ठ के श्लोक भी हैं। धम्मपद आदि बौद्ध-जन गाथाए भी हैं और कालिदास भास भारवि हर्ष दडी आदि महाकवियो की सुभग-ललित कृतियां भी है। नीति-वैराग्य-शतक तो वे छोड़ ही कसे सकते थे ? और पंचतत्र हितोपदेश को तो यहा स्थान मिलना ही चाहिए। आखिरकार शास्त्रीजी न अपन ग्रंथ रश्मिमाला तथा अमृतमथन से और कई अनिर्दिष्ट कवियों तथा अन्य विवेचक विद्वानों के बहुमूल्य उपयोगी तथा सदर सुभाषित भी दिये हैं।

इस तरह हमारी सारी पूरी आय-विरासत में से चुनकर यह मनोहर सग्रह तयार किया है। बहुत से वचन तो हमार आदरणीय पुरखों के हैं। चुनने की दृष्टि और अभिरुचि स्वयं शास्त्रीजी की है। मैं स्वय चुनने बठता तो शायद सग्रह दूसरे ढग का होता। लेकिन न जाने मेरा संग्रह बनाते कितन साल बीत जाते और भाषा के अल्पज्ञान के कारण असंख्य अच्छे-अच्छे वचन रह भी जाते।

अगर एक ही उद्देश्य मन में रखकर सौ रसिक विद्वान् अपना-अपना सग्रह तयार करते तो हरेक सग्रह अपन ढग का अनोखा बन जाता। तो भी ऐसे सौ अलग-अलग संग्रहो म जो सुभाषित समान रूप से पाये जाते ऐसे अनेक सुभाषित इस संग्रह में ही हैं।

हिंदी-अनुवाद मे शास्त्रीजी ने केवल शब्दार्थ देने का आग्रह नहीं रखा है। केवल भाव ही रखा दिया है। और कहीं-कहीं तो चंद संस्कृत-शब्दों का अपना ही विशिष्ट अर्थ दिया है। ऐसे विशिष्ट शब्दो के कारण सुभाषित का रहस्य अनोखे ढंग से प्रगट होता है।

श्री भगवद्देव शास्त्रीजी ने अपने अध्ययन मनन-चिंतन के फल-स्वरूप यह सुभाषित-सप्तशती तयार की है। संस्कृत-प्रेमियो के लिए (मेरे ख्याल से संस्कृत में वदिक संस्कृत पाली प्राकृत आदि सब बोलियां आ ही जाती

हैं।) और संस्कृति-उपासकों के लिए यह एक अच्छी मनन-योग्य प्रसन्न गंभीर देन है।

मैं तो उनके प्रति कृतज्ञ हूं ही।

नई दिल्ली
राम नवमी
५ ४ ६० ।

काका कालेलकर

पुनश्च—

'सस्ता साहित्य मंडल' के प्रति मेरा इतना घनिष्ठ आत्मीय भाव है कि प्रकाशक के तौर पर उनका अभिनंदन करने में अपना ही अभिनन्दन करूंगा।

का० का०

प्रस्तावना

'सात' की संख्या के साथ भारतीय विचार-धारा का चिरन्तन काल से गहरा सम्बन्ध रहा है। वैदिक वाङ्मय से लेकर बराबर यह सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। वैदिक संहिताओं में ही 'सप्त ऋषयः' 'सप्त अश्वाः' 'सप्त समिधः' 'सप्त परिधयः' 'सप्तहोता' 'सप्त सिन्धवः' 'सप्त छन्दांसि' 'सप्त प्राणाः' 'सप्त धामानि' इत्यादि प्रसंगों में 'सप्त' का प्रयोग आया है। पिछले साहित्यों में भी 'सप्त-रश्मि' (=सूर्य) 'सप्तार्चि' (=अग्नि) 'सप्ताह' 'सात वार' 'सप्त धातुएं' 'सात द्वीप' 'सप्त-भूमिक' प्रासाद' 'सप्तपदी', 'सात स्वर' इत्यादि प्रयोगों में 'सप्त' या 'सात' की संख्या आती है।

इसका मौलिक कारण क्या है? क्या सृष्टि की रचना में ही इसका मौलिक कारण निहित है? विज्ञान के लिए यह एक विचारणीय समस्या है।

कदाचित् कुछ ऐसे ही कारण से साहित्यिक रचनाओं के साथ भी उक्त संख्या का सम्बन्ध चिरकाल से ही पाया जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत प्राकृत और हिन्दी का सप्तशती-साहित्य प्रसिद्ध है। हाल-कृत सतसई (=सप्तशती) गोवर्धन-कृत आर्या-सप्तशती विश्वेश्वर-कृत आर्या-सप्तशती बिहारी-सतसई तुलसी-सतसई, वृन्द-सतसई आदि रचनाएं उक्त प्रवृत्ति को ही प्रमाणित करती हैं। दुर्गा-सप्तशती का तो समस्त भारत में एक धर्म-पुस्तक के रूप में अनोखा स्थान चिरकाल से ही रहा है और अब भी है। हिन्दुओं की अत्यन्त मान्य पुस्तक भगवद्गीता भी वास्तव में एक सप्तशती ही है।

इसी मान्य परम्परा का ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक के नाम और स्वरूप का निर्धारण किया गया है।

सुभाषित-संग्रहों की परम्परा भारतवर्ष में सहस्रों वर्षों से चली आ रही है। वैदिक संहिताओं में सम्मिलित सुभाषितों को छोड़कर भी ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र-तत्र उद्धृत सुभाषित सुभाषित-संग्रहों का सार सचमुच करते हैं। यही बात रामायण महाभारत आदि प्राचीन संस्कृत पालि तथा प्राकृत ग्रन्थों

के विषय में कही जा सकती है। पञ्चतन्त्र जैसे ग्रन्थों की रचना म सुभाषित संग्रहों का आधार स्पष्ट है। यह दुःख की बात है कि उन अतिप्राचीन संग्रहों म से अब कोई ग्रन्थ-रूप में अवशिष्ट नहीं है। फिर भी लगभग ११ वी शताब्दी ई० म बन हुए अनक बड़े-बड़े सुभाषित-संग्रह प्रकाशित हो चुके है। इनमें से कवीन्द्रवचनसमुच्चय सदुक्तिकर्णामृत सुभाषितमुक्तावली शार्ङ्गधर-पद्धति और वल्लभ-सुभाषितावली मुख्य हैं।

आधुनिक समय में भी सुभाषितरत्नभाण्डागार (बम्बई) तथा Dr Böhtlingk द्वारा संगृहीत Indische Spruche (जर्मन अनुवाद-सहित) जैसे विशिष्ट सुभाषित-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

सुभाषित-संग्रहों क महत्त्व के विषय म कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। साहित्यिक जगत् म सहस्रों वर्षों के उत्कृष्ट और सुन्दर विचारों का एकत्र संग्रह वास्तव में किसी भी बड़ी-से-बड़ी प्रदर्शनी या संग्रह से अधिक महत्त्व रखता है। वसे तो एक-एक सुभाषित-रत्न भी अमूल्य होता है। 'सुतसोम-जातक'[1] में ठीक ही कहा है कि 'सुभाषित अमध्य हात हैं प्राणों स भी उनका मूल्य अधिक होता है।

इसीलिए प्रत्यक सभ्य देश के साहित्य में सुभाषित-संग्रहों को विशिष्ट स्थान दिया जाता है।

वास्तव में किसी भी सुभाषित-संग्रह का क्षत्र साहित्य की दृष्टि स ही नहीं किन्तु मानव-जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से भी अतिव्यापक होना चाहिए।

परन्तु इधर भारतवर्ष के इतिहास के मध्यकाल में रचित सुभाषित संग्रहों में जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुक हैं उक्त अपेक्षित गुण प्रायः नहीं देख जाते। सामान्य रूप से उनकी प्रवृत्तियों को हम इस प्रकार संगृहीत कर सकते हैं—

१ निश्चित रूप से उनम सुविस्तृत वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है। इसीलिए उनम वैदिक वाङ्मय की स्फूर्ति-दायिनी

१ II 'न्यग्रमार्ग......सुभाषितानाम्......सुवेव सन्नाम मन प्रसार्द, येनोज्नुराग रिपवन्नी च यानि। यथा विद्यथा विलासस्ती च अर्थ नत्तु स्यादरि तारवमाधिः॥ (जातकमाला में सुतसोम-जातक)

उदात्त भावनाओं का अभाव है।

२ लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी कवियों के पद्य-मय सुभाषितों की ओर ही उनका अधिकतर झुकाव है।

३ उनमें अन्य विषयों के साथ-साथ प्रायः सबसे अधिक प्रामुख्य शृङ्गार रस से सम्बन्धित नायक-नायिकाओं का वर्णन तरुणी-प्रज्या संभोग-प्रज्या जैसे वर्णनों को ही दिया गया है।

ये बातें कई अंशों में आधुनिक सुभाषित-संग्रहों के विषय में भी ठीक हैं। प्रस्तुत 'सुभाषित-सप्तशती' उपरोक्त बातों की दृष्टि से रचित संग्रहों से नितान्त भिन्न है और उसका वैशिष्ट्य इसी बात में निहित है।

संक्षेप में संगृहीत सुभाषितों के आधार, भाषा और लक्ष्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ की विशेषताएं इस प्रकार हैं—

१ पुस्तक के तीन खण्डों में से प्रथम खण्ड के समस्त सुभाषित वैदिक वाङ्मय के विभिन्न भागों—मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, उपनिषद् भाग और परिशिष्ट—से लिये गए हैं।

२ द्वितीय खण्ड के सुभाषित इतिहास-पुराण, स्मृति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद जैसे विविध क्षेत्रों के साथ-साथ जैन और बौद्ध मान्य ग्रन्थों से भी लिए गए हैं। संस्कृत के साथ पालि के सुभाषित भी इस खण्ड में सम्मिलित हैं।

३ सुभाषित केवल पद्यों के रूप में न होकर, पद्य-वाक्यों और विभिन्न शैली के गद्य के रूप में भी संगृहीत किये गए हैं।

तृतीय खण्ड के सुभाषित मुख्यतः प्रसिद्ध कवियों के ग्रन्थों से और अन्य ग्रन्थों से भी लिये गए हैं।

४ यह ध्यान रखा गया है कि सुभाषितों की भाषा यथासम्भव मंजी हुई सरल, प्रवाहपूर्ण और अल्पाक्षर हो, जिससे उनका अधिक-से-अधिक प्रचार हो सके और वे बिना प्रयास कण्ठगत हो जायं। उनमें आह्लादक चमत्कृति हो इसका भी यथासम्भव ध्यान रखा गया है।

५ संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता आदर्शों और विचारों की दृष्टि से है। यह बराबर ध्यान में रखा गया है कि सुभाषितों के विचार

अनार्यवृत्ति के न हों, कायरता, स्वार्थपरता, दम्भवादिता, मृत्यु-भीरुता, मिथ्या-वैराग्य, मिथ्या-संतोष आदि वृत्तियों का पोषण देनेवाले न हों। साथ ही स्त्रैण कामुकता बढ़ानेवाले या पुरुषार्थ को क्षीण करनेवाले भी न हों।

भावात्मक दृष्टि से इस सप्त-शती का मुख्य अभिप्राय यही है कि इसके द्वारा देश में विशेषतः नवयुवकों में आत्म-विश्वास, स्वावलम्बन, चारित्र्य का उत्कर्ष, मानवता का सम्मान, जीवन में आशावाद, कर्तव्य-परायणता, श्रम और तपस्या द्वारा उन्नति की भावना जैसी उदात्त भावनाओं का संचार हो। साथ ही व्यापक समन्वयात्मक असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा की पृष्ठ-भूमि में यथासंभव सनातनकाल के क्रम से उसके विभिन्न स्वरूपों का और उनके प्रभावों का परिचय भी इस संग्रह का ध्येय है। इससे व्यापक असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृति की भावना को अवश्य पुष्टि मिलेगी, ऐसी हमारी धारणा है।

आज तक के समस्त सुभाषित-संग्रहों में इस संग्रह की यह सबसे बड़ी खूबी है।

पुस्तक की सामग्री तीन खण्डों और तेरह अध्यायों में विभक्त की गई है।

प्रथम खण्ड के सुभाषित क्रमशः चार अध्यायों में मन्त्र-संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों और परिशिष्ट रूप में निरुक्त से लिये गए हैं। इस खण्ड के सुभाषितों की संख्या २४० है। अपनी उदात्त वैदिक भावनाओं के कारण वास्तव में इस खण्ड का सबसे अधिक महत्त्व है। प्राधान्येन श्रुति-मूलक होने से, इस खण्ड को हम श्रुति-खण्ड भी कह सकते हैं।

द्वितीय खण्ड के सुभाषित भी चार अध्यायों में विभक्त हैं। उनकी संख्या २४१ है। ये क्रमशः १ वाल्मीकि रामायण और महाभारत, २ जैन और बौद्ध ग्रन्थ—ज्ञानार्णव और धम्मपद, ३ अर्थशास्त्र, चाणक्य सूत्र और मनुस्मृति तथा ४ चरक-संहिता, योगवासिष्ठ और श्रीमद्भागवत से संग्रह किये गए हैं। धम्मपद के सुभाषित पालि में, शेष संस्कृत में हैं। विचार-धारा और वाणी दोनों की दृष्टि से ये ग्रन्थ प्रायशः वैदिक धारा और काव्यधारा के मध्यकाल का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राधान्येन स्मृति और पुराण-मूलक होने से इस खण्ड को हम स्मृति-पुराण-खण्ड भी कह सकते हैं।

तृतीय खण्ड के सुभाषित पांच अध्यायों में विभक्त हैं। उनकी संख्या २१९ है। जैसा विषय-सूची से विदित होगा वे क्रमशः (१) कालिदासीय काव्य-नाटकों, (२) भारवि माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों (३) शूद्रक, भवभूति, विशाखदत्त के नाट्य-ग्रन्थों तथा दण्डी बाण और राजशेखर की गद्य-रचनाओं (४) कथासरित्सागर, पञ्चतन्त्र हितोपदेश नीतिशतक, वैराग्य-शतक रश्मिमाला और अमृतमन्थन तथा (५) प्रकीर्णक के रूप में अनिर्दिष्ट विभिन्न ग्रन्थों से लिए गए हैं। इस खण्ड का आधार अधिकतर महाकवियों के ग्रन्थ हैं इसलिए इसको हम काव्य-खण्ड भी कह सकते हैं।

इस पुस्तक की तैयारी और प्रकाशन का श्रेय श्रद्धेय काकासाहब कालेलकर को है। लेखक के पूर्व प्रकाशित संस्कृत-ग्रंथ 'प्रबन्ध प्रकाश' में सुभाषितों को देखकर काकासाहब ने इच्छा प्रकट की कि उन सुभाषितों को कुछ बढ़ाकर हिन्दी-अनुवाद के साथ स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में निकाला जाय। इतना ही नहीं, उन्होंने अनेक उपयोगी सुझाव भी दिये। उन्हींकी प्रेरणा से यह पुस्तक तैयार हुई और उन्हींके सुझाव पर 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने पुस्तक का प्रकाशन स्वीकार किया। स्वभावतः हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ और आभारी हैं। अन्त में हमारी यही हार्दिक कामना है कि

सुभाषितामामष्याणामियं सप्तशती नृणाम ।
कुर्वती जीवनोत्कर्षं शं तनोतु समन्ततः ॥

—श्रेष्ठ सुभाषितों की यह सप्तशती मनुष्यों के जीवन में उत्कर्ष लाती हुई सब ओर कल्याण का विस्तार करे!

तमसस्परि पश्यन्तो नित्यं स्वर्ज्योतिरुत्तरम ।
अदनुवीमहि तज्ज्योतिरुत्तमं यदनामयम ॥

—उत्कृष्टतर प्रकाश को आदर्श रूप में देखते हुए हम सब अज्ञानान्धकार की वर्तमान अवस्था से क्रमशः ऊपर उठकर, उस उत्तम प्रकाश को प्राप्त हों, जो सब प्रकार के अन्धकार से अज्ञान से और अपूर्णता से रहित है!

वैदिक स्वाध्याय मन्दिर, —मङ्गलदेव शास्त्री
ज्योतिराश्रम, वाराणसी छावनी



मातृभूमि का अभिनन्दन

(वैदिक पद्धति में)

सा नो माता भारती भूर्विभासताम

हमारी विश्व-प्रसिद्ध मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो

१

इयं देवी मधुना तर्पयन्ती
तिस्रो भूमीरमृता द्यावपस्यात्।
कामान् दुग्ध विप्रकर्षयत्यलक्ष्मीं,
मेधां श्रद्धां सा सदाऽस्मासु कुर्यात्॥

स्वर्ग-लोक से मानो उतरकर तीनों लोकों को दिव्य माधुर्य से भरनेवाली इच्छित कामनाओं को देनेवाली तथा दुःख-दारिद्र्य (अलक्ष्मी) को हटाने वाली देवी स्वरूपिणी भारत-माता सद्विचारों की साधना में हमारी सहायक हो।

२

सर्वे वेदा उपनिषदश्च सर्वाः,
धर्मग्रन्थाश्चापरे निधयो यस्याः।
मृत्योर्मर्त्यानमृतं ये दिशन्ति च
सा नो माता भारती भूर्विभासताम्॥

मनुष्यों को मृत्यु से हटाकर अमृत की प्राप्ति का उपाय बतानेवाले समस्त वेद उपनिषद् तथा अन्य (बौद्ध जैन आदि) धर्म-ग्रन्थ जिसकी निधि-स्वरूप हैं वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो।

३

यां अभ्युन्नतामनु धर्मा अभ्युदयन्ते,
अवतिष्ठन्ते ते भूय अवतिष्ठमानाम् ।
यस्या धर्मे प्रसवे धर्म एधते,
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥

जिसकी अवनति संसार में धर्माचरण की अवनति का कारण होती है जिसकी उन्नति में धर्माचरण की उन्नति निहित है। जिससे धर्म को प्रेरणा प्राप्त होती है वह विश्व प्रसिद्ध हमारी मातृ-भूमि भारत देदीप्यमान हो।

४

यां रक्षन्त्यनिशं प्रतिबुध्यमाना,
देवा ऋषयो मुनयो ह्यप्रमादम् ।
राजर्षयोऽपि ह्यनघा साधुवर्याः,
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥

देवगण ऋषि मुनि राजर्षि और पवित्रात्मा सन्त-महात्मागण सावधानी तथा तत्परता से जिसके कल्याण स्वरूप की निरन्तर रक्षा करते आए हैं वह विश्व प्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो।

५

महान्तोऽस्या महिमानो निविष्टाः,
देवा यातुं यां क्षमन्ते न सद्यः ।
सा नो मन्द्रा भ्राजसा भ्राजमाना
माता भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् ॥

जिसकी महिमा महान् है, देवगण भी जिसके दर्शन का साहस नहीं कर पाते समुज्ज्वल तेज से देदीप्यमान वह सर्व-लोक-कमनीय हमारी मातृभूमि विरोधी तत्त्वों का दमन (निराकरण) करनेवाली हो।

६

(माहात्म्यम)

अभिनन्दनमिदं पुण्यं दिव्यभावैं समन्वितम्।
मातृभूमे पठन्नित्यमात्मकल्याणमश्नुते ॥

मातृभूमि भारत के दिव्य भावों से युक्त इस पवित्र अभिनन्दन का नित्य पाठ करने वाला मनुष्य आत्म-कल्याण को प्राप्त होगा।

卐

सन्तो मधुव्रता सान्द्र
पीत्वा शास्त्ररसामृतम् ।
लोकोत्तर तयाऽक्षय्य
मानन्दमुपभुञ्जते ॥१॥

सत्पुरुषों का स्वभाव मधुपान-रसिक भ्रमर के समान होता है। वे शास्त्रों के रस-रूपी अमृत को तन्मयता के साथ पीकर अक्षय लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करते हैं।

प्रबोधाय विवेकाय
हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय
सतां सूक्ति प्रवर्तते ॥२॥

सत्पुरुषों की सूक्ति दूसरों के यथार्थ ज्ञान के लिए, सत्य और असत्य के विवेक के लिए, लोक-कल्याण के लिए जगत् में शान्ति के लिए और वास्तविक तत्त्व के उपदेश के लिए प्रवृत्त हुआ करती है।

सुभाषित-सप्तशती

प्रथम खंड

अध्याय १—४

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय॥ बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८

मेरे आदर्श देव!
मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलिये,
मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिये,
मुझे अपूर्णता (मृत्यु) से पूर्णता (अमृत) की ओर ले चलिये।

पहला अध्याय

वैदिक धारा का अमृत स्रोत

वह दिव्य मेधा जिसने ऋषियों द्वारा वैदिक धारा को प्रवाहित किया था, जिसने भारतीय संस्कृति के उषःकाल में विश्व में व्याप्त उस मौलिक तत्त्व का साक्षात्कार किया था, जिसकी दिव्य विभूतियों का वैदिक देवताओं के रूप में मंत्रों में गान किया गया है और जिसने नाना प्रकाशमय आनन्दमय लोकों से लाकर मानव-जीवन के लिए दिव्य संदेशों को श्रुति-मधुर पवित्र शब्दों में सुनाया था, भारतीय संस्कृति के अमृत-स्रोत के रूप में अब भी वैदिक मंत्रों में सुरक्षित है। उस अमृत-स्रोत में अवगाहन निश्चय ही मानव के संतप्त हृदय को शांति दे सकता है। अपनी अद्वितीय उदात्त भावनाओं और अमूल्य जीवन-संदेशों के कारण उसका निश्चय ही सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व है।

उसी दिव्य अमृत-स्रोत का धारावाहिक निदर्शन प्रायः वैदिक मंत्रों के शब्दों में ही हम नीचे कराना चाहते हैं जिससे उसके जीवन-प्रद पवित्रतादायक और शान्ति तथा आनन्द को देनेवाले प्रभाव का अनुभव पाठक स्वयं कर सकें।

मौलिक प्रश्न

१ कस्मै देवाय हविषा विधेम (ऋग्० १०।१२१।१)

हम किस देव की स्तुति और उपासना करें ?

उत्तर

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्० १०।१२१।५)

जिस शक्ति ने विशाल द्युलोक को पृथिवी को स्वर्लोक और नाक-स्थान को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है और जो अन्तरिक्ष लोक में भी व्याप्त हो रही है, उसको छोड़कर हम किस देव की स्तुति और उपासना कर सकते हैं ? अर्थात् हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए।

मूलतत्त्व का स्वरूप

२ स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु। (यजु० ३२।८)
यह मूलतत्त्व सारे विश्व में ओत प्रोत है और सब प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से काम कर रहा है।

३ न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।
(यजु० ३२।३)
उसका यश सर्वत्र फैला हुआ है। उसकी प्रतिमा या उपमान नहीं हो सकता।

सब देवता उसीकी विभूति हैं

४ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋग्० १।१६४।४६)
एक ही मूल तत्त्व को विद्वान् अग्नि यम मातरिश्वा आदि अनेक नामों से कहते हैं।

५ सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋग्० १०।११४।५)

एक ही सर्व-व्यापक तत्त्व को विद्वान् कवि शब्दों द्वारा अनेक रूपों में कल्पित कर लेते ह ।

६ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापति ॥
(यजु० ३२।१)

उसी मूल तत्त्व को अग्नि आदित्य वायु चन्द्रमा, शुक्र (= भास्वर) ब्रह्म अप् (= जल) और प्रजापति कहा जाता ह । अथवा अग्नि आदि सब उसीकी विभूतियाँ ह ।

उस परम देव की महिमा

७ महीरस्य प्रणीतय पूर्वीरुत प्रशस्तय ।
नास्य क्षीयन्त ऊतय ॥ (ऋग्० ६।४५।३)

परमश्वयशाली भगवान् की लीला या चरित्रों की कोई सीमा नहीं ह । इस अनन्त विश्व प्रपच के निर्माता के संख्यातीत गुणों का गान कौन कर सकता ह ! हमारा कल्याण इसीमें ह कि हमको सदा यह विश्वास रह कि भगवान् सबके रक्षक ह । इस सारे विश्व की रचना का एकमात्र उद्देश्य हमारा कल्याण ह ।

८. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु० ३१।१८)

सवत्र ओत प्रोत वह महान् दयाधिदेव सूय के समान अपन सवामय ज्य का सवत्र फैलाय हुए भी हमार अज्ञानान्धकार के कारण हमस छिपा हुआ ह । उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु अथवा क्षुद्र भावना को दूर कर सकता ह । अमृतत्व अथवा विनाश जीवन की प्राप्ति का कोई दूसरा माग नहीं ह ।

आदर्श प्रार्थना

९ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु० ३।३५)

हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं जो हम सबकी बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करे ।

१० मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥
(अथर्व० ६।१०८।२)

ऋषियों द्वारा संस्तुत, ब्रह्मचारियों से सेवित ज्ञान का प्रकाश करने वाली और स्वयं ज्ञानमय उस श्रेष्ठ मेधा-शक्ति का हम आह्वान करते हैं जिससे समस्त दैवी शक्तियों का सान्निध्य और संरक्षण हमको प्राप्त हो जावे ।

११ तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु (यजु० ३४।१)

मेरे मन के संकल्प शुभ और कल्याणमय हों ।

१२ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ॥
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥ (यजु० ३०।३)

हे देव सवित ! समस्त दुर्गुणों को हमसे दूर कीजिये और जो कल्याण प्रद है उसे हमें प्राप्त कराइये ।

१३ परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज । (यजु० ४।२८)

हे प्रकाश-स्वरूप अग्निदेव ! मुझे दुष्कर्मों से बचाकर सत्कर्मों में दृढ़ता से स्थापित कीजिये ।

१४ भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋग्० १०।२०।१)

भगवन् ! ऐसी प्रेरणा कीजिये जिससे हमारा मन कल्याण अथवा शुभ मार्ग का ही अनुसरण करे।

१५ भद्रं भद्रं न आभर (ऋग् ८।९३।२८)
भगवन् ! हमें बराबर कल्याण को प्राप्त कराइये।

१६ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
(यजु० २५।२१)

हे यजनीय देवगण ! हम कानों से शुभ सुनें और आंखों से शुभ ही देखें।

१७ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ-
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः । (यजु० २५।१४)

हमें ऐसे शुभ संकल्प प्राप्त हों जो सर्वथा अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की ओर ले जानेवाले हों।

जीवन की दार्शनिक दृष्टि

१८. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(यजु० ४०।२)

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु-पर्यन्त जीने की अर्थात् अपने को सममत करने की इच्छा करे। उसका कल्याण इसी में है कर्तव्य कर्म को छोड़कर भागने में नहीं। कर्म-बन्धन से बचने का यही उपाय है।

१९. ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
(यजु० ४०।१)

सारे विश्व में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त है। कर्म करने पर ईश्वर द्वारा

जा भी फल प्राप्त हो उसका शुभ उपभोग करो। जो दूसर को प्राप्त हू उसपर अपना मन मत चलाओ।

२० सः............मायातम्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

(यजु० ४०।८)

हमार जीवन म ईश्वर से प्राप्त पदार्थों में सदा ही योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

२१ अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।

(यजु० ३६।२४)

हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक अदीन होकर रहें। अर्थात् हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति पथ पर आग बढ़ते रहें।

२२ न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋग्० ४।३३।११)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।

२३ यावृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (ऋग्० ५।४४।८)

मनुष्य अपने ध्येय को श्रम और तप से ही प्राप्त कर सकता है।

२४ अस्ति रत्नमनागसः (ऋग्० ८।६७।७)

निष्पाप मनुष्य के लिए अमूल्य रत्न स्वयं उपस्थित हो जाते हैं।

जीवन का लक्ष्य

२५ उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजु० २०।२१)

अज्ञान-रूपी अन्धकार से उत्तरोत्तर प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम देवताओं में सूर्य के समान, उत्तम ज्योति अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करें।

२६ लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि ।
(ऋग्० ९।११३।९)

भगवन् ! मुझ उस पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कराइए, जहाँ केवल प्रकाश-ही-प्रकाश है, अर्थात् जहाँ अज्ञान-रूपी अन्धकार नाममात्र को भी नहीं है ।

२७ परन्तु मृत्युरमृतं न ऐतु (अथर्व० १८।३।६२)

भगवन् ! अपूर्ण जीवन की अवस्था में हम पूर्णता के जीवन को प्राप्त कराइए ।

२८. उद्यायवा स्वायुषोवस्थाम् (यजु० ४।२८)

हम उत्कृष्ट और शुभ जीवन के लिए उद्योग-शील हों !

२९ प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः (ऋग्० १०।५९।१)

भगवन् ! हम नवीन से नवीनतर और उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर जीवन की ओर बढ़ते रहें ।

जीवन-संगीत

३० जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूयेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ॥
(अथर्व० १९।६७।२-८)

हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें,
अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें
पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करते रहें
आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें
और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा सद्गुणों से
अपने को भूषित करते रहें ।

४२ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

(अथर्व० ११।५।१७)

ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है।

४३ इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। (अथर्व० ११।५।१९)

संयत जीवन में रहनेवाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को पुष्ट और कल्याणमुख बनाने में उन्हें कल्याण की ओर प्रवृत्त करने में, समर्थ होता है।

ऋत और सत्य की भावना[1]

४४ ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर् वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द ।
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥

(ऋग्० ४।२३।८-९)

ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है
ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है।
मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देनेवाली

---

[1] बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसीको ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं उन सबका आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही सत्य है यही वास्तविक धर्म है।

ऋत की कीर्ति बहरे कानों में भी पहुंच चुकी है।
ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं,
विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्तिमान् हो रहा है।
ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य-पदार्थों की कामना की जाती है
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियां जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं।

४५ दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
(यजु० १९।७७)

सृष्टि-कर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है और अश्रद्धा की अनृत या असत्य में।

४६ वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूं।

४७ देवा देवैरवन्तु मा।...सत्येन सत्यम्...
(यजु० २०।११-१२)

समस्त दैवी शक्तियां मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें!

४८. सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च...यज्ञेन कल्पन्ताम्।
(यजु० १८।५)

यज्ञ द्वारा मैं सत्य श्रद्धा और जीवन की सफलता को प्राप्त करूं।

४९ सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः।
(ऋग्० १०।३७।२)

सत्य भाषण द्वारा ही मैं अपने को सब बुराइयों से बचा सकता हूं।

पवित्रता की भावना

५० ...देव सवितः ...मां पुनीहि विश्वतः।
(यजु० १९।४३)

हे सवितृ-देव ! मुझ सब प्रकार से पवित्र कीजिये ।

५१ पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व० ६।१९।२)

बुद्धि पराक्रम जीवन और निरापद आत्म-रक्षा के उद्देश्य से पवित्रता दायक पवमान देव मुझे सब प्रकार से (अर्थात् शरीर मन और वाणी में) पवित्र करें ।

आत्म विश्वास की भावना

५२ अहमिन्द्रो न पराजिग्ये । (ऋग्० १०।४८।५)

मैं इन्द्र अर्थात् शक्ति का केन्द्र हूँ मेरी पराजय नहीं हो सकती ।

५३ यथा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ।
(अथर्व० ६।५८।३)

जगत के समस्त पदार्थों में मैं सबसे अधिक यशवाला हूँ । अर्थात् मनुष्य का स्थान सृष्टि के समस्त पदार्थों से ऊंचा है ।

५४ पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् । (शतपथब्राह्मण २।५।१।१)

सब प्राणियों में मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर के अत्यन्त समीप है ।

५५ अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥
(अथर्व० १२।१।५४)

मैं स्वभावतः दूसरों पर विजय पानेवाला हूँ । पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है । मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओं को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता प्राप्त करनेवाला हूँ ।

५६ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(यजु० ४० ।३)

आत्मत्व या आत्म चेतना का विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्

जीवन में आत्म-विश्वास की भावना का अभाव) न केवल व्यक्तियों के लिए किन्तु जातियों और राष्ट्रों के लिए भी किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञान के अन्धकार में गिराकर सर्वनाश का हेतु होती है।

ओजस्वी जीवन

५७ तेजोऽसि तेजो मयि धेहि
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि
बलमसि बलं मयि धेहि
ओजोऽस्योजो मयि धेहि
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु० १९।९)

मेरे आदर्श देव !
आप तेज-स्वरूप हैं, मुझमें तेज स्थापित कीजिए !
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओज-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु[1]-रूप हैं, मुझमें मन्यु का धारण कीजिए !
आप सहः-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए !

वीरता तथा निर्भयता की भावना

५८. मा त्वा परिपरिणो विदन् (यजु० ४। ३४)

सावधान रहो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति में बाधक शत्रु तुम्हारे विजय प्राप्त न कर सकें।

५९. इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ (अथर्व० ७।९३।१)

---

[1] मन्यु—अन्याय को न सहनेवाला तेज। [2] सहः—विरोधियों को दबा देनेवाली शक्ति और बल।

सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हमपर आघात करें, हमारा कर्त्तव्य है कि मौरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

६० मम पुत्राः शत्रुहणः। (ऋग्० १०।१५९।३)
मेरे पुत्र शत्रु का हनन करनेवाले हों!

६१ सुवीरासो वयं.... जयेम। (ऋग्० ९।६१।२३)
हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।

६२ मा भे, मा संविक्थाः। (यजु० १।२३)
तुम न भयभीत होओ, न उद्विग्न।

६३ यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ (अथर्व० २।१५।१।३)

जैसे आकाश और पृथ्वी अपने-अपने कर्त्तव्य के पालन में न तो डरते हैं न कोई उनको हानि पहुंचा सकता है इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते हैं न कोई उनको हानि पहुंचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

६४ मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्० १०।१२८।१)
मेरे लिए सब दिशाएं झुक जायं। अर्थात् प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो।

शारीरिक स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।

आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।....
....यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥ (यजु० ३।१७)

अग्निदेव ! तुम शरीर की रक्षा करनेवाले हो
मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए।
तुम आयु को देनेवाले हो
मुझे पूर्ण आयु दीजिए।
मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में,
जो भी कमी हो उसे पूरा कर दीजिए।

६६ वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा....
(अथर्व० १९।६०।१-२)

मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना अपना कार्य करें यही मैं चाहता हूँ। मेरी वाणी प्राण आँख और कान अपना-अपना काम कर सकें! मेरे बाल काले रहें! दाँतों में कोई रोग न हो! बाहुओं में बहुत बल हो! मेरी उरुओं में ओज जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो!

६७ आयुर् यज्ञेन कल्पतां...प्राणो...अपानो...व्यानो...चक्षुर्...
श्रोत्र...वाग्...मनो...आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥
(यजु० २२।३३)

प्राकृत जगत् में काम करनेवाली अग्नि वायु आदि दैवी शक्तियों के साथ सामंजस्य का जीवन (= यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्ण आयु प्राप्त कर सकूँ, मेरी प्राण अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना अपना काम ठीक तरह कर सकें और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व (= आत्मा) का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है!

६८ भद्रा भवन्तु मस्तनू । (यजु० २०।४०)

हम चाहते हैं कि हमारे शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हों।

६९ भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि। (ऋग्० १०।३७।६)

हम कल्याण-मार्ग पर चलते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हों।

७० अहं सर्वमायुर्जीव्यासम्। (अथर्व० १९।७०।१)

मैं अपने जीवन में पूर्ण आयु प्राप्त करूँ।

७१ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्। प्र ब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्॥
(यजु० ३६।२४)

वह देखो! इन्द्रियों के स्वास्थ्य के निर्वाहक सबके चक्षुःस्थानीय प्रकाशमय सूर्य भगवान् सामने उदित हो रहे हैं। उनसे स्वास्थ्य को प्राप्त करते हुए हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीयें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक किसीके आश्रित न हों और सौ वर्ष के अनन्तर भी।

स्वर्गीय पारिवारिक जीवन

७२ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा॥
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
(अथर्व० ३।३०।१-३)

हे गृहस्थो! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द

और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक-दूसरे से उसी तरह प्रेम करो जैसे गौ अपने तुरन्त जन्मे बछड़े को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञाकारी और उनके साथ एकमन होकर रहे। पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे।

भाई भाई के साथ और बहन बहन के साथ द्वेष न करे।

तुम्हें चाहिए कि एकमन होकर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम का बढ़ाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो।

आदर्श सामाजिक जीवन

७३ स गच्छध्वं सं वदध्वं स वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋग्० १०।१९१।२)

हे मनुष्यो जैसे सनातन से विद्यमान दिव्य शक्तियों से संपन्न सूर्य चंद्र वायु अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से मानो प्रेम से अपने अपने कार्य को करते हैं वैसे ही तुम भी समष्टि भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ एकमत्य में रहो और परस्पर सद्भाव बरतो।

७४ समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्। (ऋग्० १०।१९१।३)

तुम्हारी मंत्रणा में समितियों में विचारों में और चिंतन में समानता हो सद्भावना हो वमनस्य और दुर्भावना न हो।

७५ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्० १०।१९१।४)

तुम्हारे अभिप्रायों में तुम्हारे हृदयों (अथवा भावनाओं) में और

अत्यन्त विस्तृत तेज से युक्त सूर्य का उदय हम सबके लिए शांति-दायक हो। चारों दिशाएं हमारे लिए शांति देनेवाली हों!

८७ शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु।
(यजु० ३६।१०)

वायु हमारे लिए सुख-रूप होकर चले! सूर्य हमारे लिए सुख-रूप होकर तपे! अत्यन्त गरजनेवाले पर्जन्य देव भी हमारे लिए सुख-रूप होकर अच्छी तरह बरसें!

दूसरा अध्याय

वैदिक धारा का सूक्ति-सन्दोह

इस प्रकरण में हम वदिक-सहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रंथो से चुनी हुई विशिष्ट सूक्तियों का दिग्दर्शन कराना चाहते ह। मनुष्य और मनुष्य-जीवन के विभिन्न पक्षो या पहलुओं पर बहुमूल्य गम्भीर अनुभव से पूर्ण तथा उपयोगी विचारो को बतलानेवाली इन सूक्तियों का महत्व स्पष्ट है।

प्राय प्रत्येक सूक्ति बहुमूल्य रत्न के समान ह। प्रत्येक सूक्ति पर एक व्याख्यात्मक अच्छा निबंध लिखा जा सकता ह।

प्राय यह भावना फली हुई ह कि वदिक वाङ्मय म यज्ञादि का ही वणन ह। पिछले प्रकरण मे स्पष्ट ह कि वदिक-मन्त्र अद्वितीय उदात्त भावनाओ और अमूल्य जीवन संदेशों स परिपूर्ण ह। इस प्रकरण मे यह स्पष्ट हो जायगा कि वदिक वाङमय में एस विचार भी प्रचुर मात्रा म पाये जाते ह जिनका व्यावहारिक दृष्टि स भी बड़ा मूल्य ह।

इस प्रकरण के दो भाग ह। प्रथम भाग (१) (वदिक-सूक्ति-मंजरी) में वदिक सहिताओ म और द्वितीय भाग (२) (ब्राह्मणीय सूक्ति-मंजरी) म ब्राह्मण-ग्रंथो म हुए विशिष्ट सूक्तियां सगृहीत ह।

१०८ नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु (७।२३।२)
मनुष्यों में कोई अपनी आयु अथवा जीवन-काल को नहीं जानता ।

१०९ तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः (९।३१।११)
समझदार लोग परमेश्वर के नियमों का उल्लंघन नहीं करते ।

११० न स्रधन्त रयिर्नशत् (७।३२।२१)
दूसरों से झगड़ा करने वाला मनुष्य धन को नहीं पाता ।

१११ चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति (७।६०।७)
ज्ञानी मनुष्य ही अज्ञानियों को मार्ग दिखाते हैं ।

११२ मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः । (८।४८।१४)
प्रमाद अथवा आलस्य के वश होकर तथा लोक-निन्दा के कारण हमको अपने कर्तव्य-मार्ग से च्युत न होना चाहिए ।

११३ ऋतस्य मृङ्गमुर्विया वि पप्रथे (८।८६।५)
सृष्टि के नियमों की सत्ता सर्वत्र फैली हुई है ।

११४ मन्दमयद्विवेचस (९।६४।२९)
अज्ञानी ही बका करते हैं ।

११५ तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति ।
(९।११२।१)

मिस्त्री टूटी हुई वस्तु के लिए, वैद्य रोगी के लिए, और ब्राह्मण यजमानों के लिए इच्छा रखता है। अर्थात् इन सबकी दृष्टि सदा स्वार्थमयी होती है ।

११६ अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व । (१०।३४।१३)
जुआ मत खेलो । खेती करो ।

११७ सत्येनोत्तभिता भूमिः (१०।८५।१)
पृथ्वी सत्य से ठहरी हुई है ।

११८ न स सखा यो न ददाति सख्ये (१०।११७।४)
वह मित्र नहीं है जो मित्र को सहायता नहीं करता ।

११९ केवलाघो भवति केवलादी (१०।११७।६)
जा अकेला खाता है वह केवल पापमय हाता ह।

शुक्लयजुर्वेद-सहिता

१२० उवन्तरिक्षमन्वेमि (१।७)
में अपनी उन्नति क लिए विस्तृत क्षत्र का चाहता हू। अर्थात् उन्नति के लिए विस्तृत क्षत्र की आवश्यकता होती ह।

१२१ धूव धूवन्त धूर्व त योऽस्मान् धर्वति (१।८)
मारत हुए का मारो जो अकारण हम पर [आघात करना चाहता ह उसका नष्ट कर ा।

१२२ मा भ , मा संविक्या । (१।२)
म डरो न उद्विग्नता को प्राप्त होआ।

१२३ ऋतस्य पथा प्रत (७।४५)
प्राकृत नियमा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करा।

१२४ अनाधृष्टा सीदत सहौजस (१०।४)
सगठित हाकर रहन स तुम्ह काई धमका न सकगा।

१२५ यह्य सूर्यसम ज्योति (।४८)
सूर्य क समान ही वद अथवा ज्ञान-विज्ञान का भा प्रमाण ह।

१२६ आशिक्षाय प्रश्निनम्। उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम्। (३०।१०)
यह समझ लो कि जा प्रश्न करता है वहा किसी विषय का ज्ञान पाता ह, समीक्षक हो किसी पदार्थ का ठीक-ठीक समझ सकता ह।

१२७ भूत्य जागरणम्। अभूत्य स्वपनम्। (३०।१७)
स्मरण रखो कि जागन स उन्नति हाती ह और सान स अवनति।

१२८ प्रियाय प्रियवादिनम् (३०।१)
अपन प्रिय क लिए प्रिय अर्थात् मधुर वाक्य बाल का ही नियुक्त करा।

१२९ हिरण्मयन पात्रण सत्यस्यापिहित मुखम् (४०।१७)

सत्य का मुख सुवर्ण-जैसी चमकीली वस्तुओं से छिपा हुआ रहता है।

सामवेद-संहिता

१३० पावका न सरस्वती (पू० २।१०।५)
हमारी विद्या पवित्र विचारों को फलानेवाली हो।

१३१ देवस्य पश्य काव्यम् (पू० ४।४।३)
शुभ प्रकृति-देवी के सौंदर्य का जो मूर्त-रूप में भगवान् का काव्य है, देखो और उससे प्रसन्नता को प्राप्त करो।

१३२ सदा गाव शुचयो विश्वधायस (पू० ५।६।६)
गौएँ सदा पवित्र और सबका कल्याण करनेवाली होती हैं।

१३३ जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृवि (उ० ९।१।६)
जागरूक व्यक्ति ही जनता की रक्षा कर सकता है।

अथर्ववेद-संहिता

१३४ सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि। (१।१।४)
हम ज्ञान विज्ञान की उन्नति में लग रहें उसमें बाधक न हों।

१३५ भद्रादधि श्रेय प्रेहि (७।८।१)
तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

१३६ सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते (८।४।१२)
सत्य भाषण और असत्य भाषण में स्पर्धा रहती है। वे एक साथ नहीं रह सकते।

१३७ सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति (९।७।८)
जिसके अन्न को दूसरे खाते हैं उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

१३८ सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्न नाश्नन्ति। (९।७।९)
जिसके अन्न को दूसरे नहीं खाते उसके पाप नष्ट नहीं होते हैं।

१३९ अशितावत्यतिथावश्नीयात् (९।८।८)
घर में आये हुए अतिथि के भोजन कर लेने पर ही भोजन करना चाहिए।

१४० माताभूमि पुत्रो महं पृथिव्या (१२।१।१२)
भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूं।

१४१ ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदु परमेष्ठिनम् (१०।७।१७)
जो मानवता में ब्रह्म के दर्शन करते हैं वास्तव में वे ही परमेश्वर को समझते हैं।

२

ब्राह्मणीय-सूक्ति-मञ्जरी

एतरेय-ब्राह्मण

१४२ कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे (२।२)
हे अग्निदेव! हमें उद्योगशील जीवन के लिए समुन्नत कीजिये।

१४३ परिमितं व भूतम्। अपरिमितं भव्यम्। (४।६)
भूत (जो हो चुका है) परिमित और भविष्य अपरिमित होता है।

१४४ भद्रादभि श्रेय प्रेहि (१।१३)
तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

१४५ चरत्तगीत

इन्द्र पुरुषरूपेण पर्येत्य (रोहितम) उवाच—
नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित! शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥१॥
चरवैति।—
पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहि।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मान श्रमेण प्रपथे हता॥२॥

चरवेति ।...

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥३॥

चरैवेति ।...

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥४॥

चरवेति ।...

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥५॥

चरवेति ।... (७।१५)

इन्द्र ने पुरुष रूप में आकर रोहित से कहा—

हे रोहित ! सुनते हैं कि जो श्रम से थांत नहीं है उसको श्री प्राप्त नहीं होती । भला मनुष्य भी जो बैठा रहता है निकम्मा समझा जाता है । इन्द्र उसीकी सहायता करता है जो श्रमशील है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥१॥

श्रम-शील पुरुष की आँखें स्फूर्ति के पुष्पों से पुष्पित होती हैं और उसके पुष्ट शरीर में स्वास्थ्य का फल लगता है । उसके सारे पाप श्रम से मानो मारे हुए निश्चेष्ट पड़े रहते हैं । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥२॥

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है खड़े हुए का खड़ा हो जाता है । पड़े रहनेवाले का सौभाग्य सोता रहता है और चलनेवाले का सौभाग्य चलने लगता है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥३॥

जो सो रहा है वह कलि है निद्रा से उठ-बैठनेवाला द्वापर है । उठकर खड़ा हो जानेवाला त्रेता है पर श्रम करनेवाला कृतयुग बन जाता है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥४॥

श्रम-शील मनुष्य ही मधु अर्थात् जीवन में माधुर्य को पाता है वही स्वादिष्ट फल का आस्वाद लेता है । सूर्य के श्रम को देखो जो कभी थकता

रहता है और कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए बराबर श्रम करते रहो॥५॥

१४६ वहति ह व वह्निर्धुरो यासु युज्यते। (६।१८)

कर्मशील व्यक्ति जिस काम में भी लगा दिया जाता है उसको पूरा करके छोड़ता है।

१४७ स वै गुरुर्भारः भृणाति (४।१३)

अपनी शक्ति से अधिक भार उठाने से मनुष्य को हानि ही होती है।

१४८ यः सकृत्पातकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम्। (७।१७)

जिसने एक बार पाप किया वह दूसरे पाप में प्रवृत्त होता है।

१४९ श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः। श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गांल्लोकान् जयतीति।
(७।१०)

जीवन-यज्ञ में श्रद्धा मानो पत्नी है और सत्य यजमान है। श्रद्धा (भावना-मूलक) और सत्य (बुद्धिमूलक) का उत्तम जोड़ी है। श्रद्धा और सत्य की जोड़ी से मनुष्य दिव्य लोकों को (=वास्तविक कल्याण को) प्राप्त करता है।

१५० अशनाया वै पाप्मामतिः (२।२)

भूख (=पेट का न भरना) ही सब पापों की जड़ है। वही बुद्धि को भ्रष्ट करती है।

१५१ यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति।
(२।८)

जिसके पास अधिक अन्न होता है संसार में वही अत्यधिक महत्त्व को पाता है।

१५२ यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते तस्य वाचं प्रोदितामनु प्रवदन्ति।
(२।१५)

जो सत्ता और श्रेष्ठता को पा लेता है उसकी कही हुई बात का सब अनुसरण करते हैं।

१५३ गिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यम्। (१।२५)

अतिथि-सत्कार को यज्ञ का प्रमुख अंग समझना चाहिए।

१५४ ब्रह्म च क्षत्रं च सश्रिते। (३।११)

ब्रह्म (= ज्ञान-शक्ति) और क्षत्र (= सैन्य-शक्ति) परस्पराश्रित होते हैं।

१५५ ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म।

(८।२)

ब्रह्म में क्षत्र की स्थिति होती है और क्षत्र में ब्रह्म की।

१५६ यजमानो वै यज्ञ। (१।२८)

यजमान का स्वरूप ही यज्ञ में प्रतिफलित होता है।

१५७ आ त्वेव श्रद्धाय होतव्यम्। (५।२७)

हवन-यज्ञ की वास्तविकता श्रद्धा में ही होती है।

१५८ मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते। (२।११)

ध्यान-पुरस्सर ही यज्ञ किया जाता है।

१५९ एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।

(१।४)

याज्ञिक कर्म की संपन्नता या पूर्णरूपता इसीमें है कि उसमें जो मंत्र प्रयुक्त होते हैं वे वास्तव में उस काम का वर्णन करते भी हैं जो यज्ञ में किया जाता है।

१६० यत्र वा च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि।
तस्य जनताय कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते।

(१।१३)

यज्ञ में तभी तक वास्तविकता रहती है जबतक वह विद्वान् यजमान की अधीनता में रहता है। तभी दशा में वह जनता का हित संपादन करता है।

१६१ सर्वस्य च वाचः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः।

(४।१०)

गौओं को देखकर सबके हृदय में प्रेम उमड़ आता है और वे सबकी सदर प्रशंसा होती है।

शतपथ ब्राह्मण

१६२ यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्य वदति ।
(१।१।१।५)

जो मनुष्य इस प्रकार सत्य के महत्व को समझता हुआ सत्य-भाषण करता है उसको मूर्तिमान् यश ही समझना चाहिए ।

१६३ मध्यममभयम् (१।१।२।२३)

मध्यम मार्ग के अवलम्बन में कोई भय नहीं होता ।

१६४ एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मय ।
(१।१।३।६)

ये सूर्य की रश्मियाँ निश्चित रूप से गंदगी को दूर करके पवित्र करने वाली हैं ।

१६५ अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता । (१।२।१।६)

अग्नि हानिकारक जंतुओं को नष्ट कर देता है ।

१६६ संग्रामो वै क्रूरम् । संग्रामे हि क्रूरं क्रियते ।
(१।२।५।१९)

संग्राम को क्रूरता का रूप समझना चाहिए क्योंकि संग्राम में क्रूर कर्म किया जाता है ।

१६७ तद्धि समृद्धं यदल्पस्ता बलीयान् आद्यो भूयान् ।
(१।३।२।१२)

खानेवाले कम हों और खाद्य पदार्थ अधिक हों यही समृद्धि का रूप है ।

१६८. सर्व वा इदमेति च प्रेति च । (१।४।१।६)

क्रिया और प्रतिक्रिया इस जगत् में स्वभाव से सर्वत्र देखी जाती है । अथवा आना और जाना सबके साथ लगा है ।

१६९ यात्व मनसो ह्रसीयसी । अपरिमिततरमिव मन ।
परिमिततरेव हि वाक् ।
(१।४।४।७)

मन से वाणी छोटी होती है । वाणी में मन कहीं अधिक अपरिमित और वाणी कहीं अधिक परिमित प्रतीत होती है ।

१७० मनसा वा इदं सर्वमाप्तम् (१।७।७।२२)
यह सब कुछ मन से प्राप्त है। अर्थात् मन की गति के अन्दर है।

१७१ मत्स्य एव मत्स्यं गिलति (१।८।१।१)
मत्स्य को मत्स्य ही निगल जाता है।

१७२ न श्वःश्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।
(२।१।३।९)
'कल करूँगा कल करूँगा' ऐसी बात न करनी चाहिए। मनुष्य के कल का कौन जानता है?

१७३ भद्रा हि तद् यद् भूतम्।...अनद्धा हि तद्
यत् भविष्यत्। (२।३।१।२५)
जो हो चुका है वह निश्चित है। जो होनेवाला है वह अनिश्चित है।

१७४ अद्धा हि तद् यदद्य। अनद्धा हि तद् यच्छ्वः।
(२।३।१।२८)
जो आज है वह निश्चित है जो कल होगा वह अनिश्चित है।

१७५ भूमा वै रायस्पोषः। श्रीर्वै भूमा। (३।१।१।१२)
समृद्धि धन की पुष्टि और लक्ष्मी, इनका एक ही अभिप्राय है।

१७६ अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः।
(३।१।२।१०)
मनुष्य अपवित्र है क्योंकि झूठ बोलता है। इसीसे उसके अंदर से दुर्गंध निकलती है।

१७७ सुवासा एव बुभूषेत्।...अप्यश्लीलं सुवाससं
दिदृक्षन्ते। (३।१।२।१६)
मनुष्य को अच्छे वस्त्रों का ही धारण करना चाहिए। कुरूप मनुष्य को भी जो अच्छे वस्त्र पहने हुए है सब कोई देखना चाहते हैं।

१७८ पुरुषो यज्ञः। पुरुषसंमितो यज्ञः। (३।१।४।२३)
मनुष्य ही यज्ञ है। यज्ञ का स्वरूप मनुष्य पर निर्भर होता है।

१७९ मनसा वा इयं वाग्धृता। मनो वा इदं पुरस्ताद्वाचः।
(३।२।४।११)
वाणी को मन पकड़ रखता है। वाणी से मन पहले आता है।

१८० तस्मिंस्तं अमृतमुभयतो दिव्या परिवृढम्। (३।५।१।२४)

राज्य-शक्ति की दाय-वामें दृढ़ता प्रजा द्वारा ही होती है।

१८१ द्वितीयवान् हि वीर्यवान् । (३।७।३।८)

जिसका साथी है वही शक्तिमान होता है।

१८२ सत्यं वै चक्षुः । सत्यं हि प्रजापतिः । (४।२।१।२६)

चक्षु सत्य है और सत्य ही प्रजापति है।

१८३ विशा वा क्षत्रियो बलवान् भवति । (४।३।३।६)

प्रजा से ही राजा बलवान होता है।

१८४ अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् । तस्माद् यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति

ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति । एतद् स्थितिः ।

(४।६।५।४)

अन्न ने सबको पकड़ रखा है। अतः जो कोई भी हमारे यहां भोजन करते हैं वे सब हमारे हो जाते हैं। यही वस्तु-स्थिति है।

१८५ पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः । (५।१।१।१)

अति अभिमान् पराभव का मुख होता है।

१८६ अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया ।...यावज्जायां न विन्दते... असर्वो हि तावद् भवति । (५।२।१।१०)

स्त्री पुरुष का आधा भाग होती है। जबतक पुरुष स्त्री को नहीं पाता है तबतक वह अपूर्ण ही रहता है।

१८७ को वेद मनुष्यस्य । (५।५।२।२)

मनुष्य को कौन जानता है? अर्थात् मानव को मानव-जीवन की, समस्या का समाधान बड़ा कठिन है।

१८८ यः सर्व कृत्स्नो मन्यते गायति वा गीते वा रमते ।

(६।१।१।१५)

मनुष्य जब अपनको पूर्ण समझता है तब गान गाता है अथवा गाना सुनकर प्रसन्न होता है।

१८९ न ह्यपुण्येन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम् ।

(६।३।१।१४)

मन लगाए बिना कोई किसी काम को ठीक तरह नहीं कर सकता।

१९० यद्वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति। तन्न हिनस्ति। यद् भूयो हिनस्ति तद्। यत्कनीयो न तदवति। (६।६।३।१७)

अपनी आवश्यकता के अनुसार भोजन किया हुआ अन्न पुष्टि करता है। हानि नहीं करता। अधिक होने पर हानि करता है। कम होने पर पुष्टि नहीं करता।

१९१ अन्नं व विट् (६।७।३।७)

प्रजा का आधार अन्न होता है।

१९२ श्रीर्वै राष्ट्रम् (६।७।३।७)

लक्ष्मी से ही राष्ट्र चलता है।

१९३ उष्ण एव जीविष्यन्। शीतो मरिष्यन्। (८।७।२।११)

जीनेवाला गरम और मरनेवाला ठंडा होता है।

१९४ न वै कामानामतिरिक्तमस्ति (८।७।२।१९)

कामनाओं का अन्त नहीं है।

१९५ ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा व उभयतो-नमस्कारा। (९।१।१।२०)

दोनों ओर के नमस्कार अत्यन्त भयानक और अशांति के हेतु होते हैं। अर्थात् दो विरुद्ध पक्षों के संघर्ष में दोनों की हां में हां मिलाना व हानि होती है।

गोपथ-ब्राह्मण

१९६ परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विष। (१।१।१)

देवता परोक्ष से प्रेम करते हैं, प्रत्यक्ष से द्वेष।

१९७ स मनसा ध्यायेद् यद्वा अहं किञ्चन मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति। तद्ध स्म तथैव भवति। (१।१।१०)

यदि मनुष्य किसी काम को करना चाहे तो उसे मन से ध्यान करना चाहिए— 'मैं जिसका मन से ध्यान करूँगा वह अवश्य ही होगा। सो निश्चय रूप से वैसा ही होता है।

१९८ रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (११।१।२६)

केवल रूप की समानता से अर्थ की समानता अधिक समीपता को प्रकट करती है।

१९९. पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति ।...उत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति । (११।४।१७)

पहली वय में पुत्र पिता पर निर्भर रहते हैं। अन्तिम वय में पिता पुत्रों पर निर्भर रहता है।

२०० यजमानेऽवाक्शिरसि पतिते स देवाऽवाक्शिराः पतति ।
(७।२।१५)

यजमान के उलटे-सिर गिरने पर, यह भी उलटे-सिर गिर जाता है।

तीसरा अध्याय

उपनिषदों का प्रसाद

भारतीय संस्कृति की विभिन्न ज्ञान-धाराओं के संबन्ध में उपनिषदों का प्रायः वैसा ही स्थान है जैसा गंगा, यमुना सतलज रावी आदि नदियों के संबंध में हिमालय पर्वत का है। भारत की पिछली समस्त ज्ञान धाराओं में उपनिषदों का साक्षात् या असाक्षात् प्रभाव दिखाई देता है। इसीलिए सहस्रों वर्षों से बराबर उपनिषदों का अद्वितीय महत्त्व भारत में चला आया है। प्राचीनकाल के समान ही आज भी उनसे सहस्रों संतप्त मानवों को शांति का शाश्वत संदेश मिल रहा है। इसलिए उनके प्रसाद के रूप में कुछ विशिष्ट वचन यहां दिये जाते हैं।

ईशोपनिषद्

२०१ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो समस्त प्राणियों को अपने में और अपने को समस्त प्राणियों में देखता है वह उपर्युक्त एकात्म-दर्शन के कारण किसीको घृणा या उपेक्षा का पात्र नहीं समझता। अर्थात् वह सबके हित में ही अपने हित को समझता है।

२०२ ज्ञान (=विद्या) और कर्म (=अविद्या)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥९–११॥

जो केवल कर्म-मार्ग का सेवन करते हैं वे अज्ञान-रूपी घोर-अन्धकार में ही रहते हैं।

जो केवल ज्ञान-मार्ग में रत रहते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार में रहते हैं।

ज्ञान (=विद्या) का दूसरा फल बतलाया गया है और कर्म (=अविद्या) का दूसरा। जिन्होंने उक्त रहस्य को समझकर उसकी व्याख्या की है उन मनीषियों से हमने ऐसा सुना है।

जो कर्म और ज्ञान को एक साथ जानता है दोनों मार्गों के सामञ्जस्य को समझता है वही कर्म द्वारा अपनी आत्मा को नीचे गिरानेवाले तत्त्वों पर विजय पाकर (मृत्यु तीर्त्वा) अपने शाश्वत अमृत-स्वरूप का अनुभव करता है।

२०३ अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

हे जीवन-मार्ग को दिखानेवाले देव ! हमको सन्मार्ग से ले चलिये जिससे हम आत्म-सम्पत्ति अथवा आत्मानन्द को पा सकें। आप हमारे सब अच्छे-बुरे कर्मों को जानते हैं। कुटिलता से युक्त जो हमारा पापाचरण है उसको हमसे दूर कर दीजिये। हम बार-बार आपको नमस्कार करते हैं।

केनोपनिषद्

२०४ माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् ।
अनिराकरणमस्त्वनिराकरणमस्तु ॥ (शान्तिपाठ)

तू आत्मा का रथी और शरीर को रथ समझ
बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम समझ।
मनीषी लोग इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनका मार्ग कहते हैं।
वे इंद्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।
जो मनुष्य विवेक-शील और सदा संयत-चित्त रहता है
उसकी इन्द्रियां उसके वश में रहती हैं जैसे अच्छे घोड़े सारथी के अधीन रहते हैं।
जो विवेकशील बुद्धि-सारथि से युक्त
और मन को संयत रखनेवाला होता है।
वह जीवन की यात्रा को समाप्त कर
व्यापक परमात्मा के परम पद को प्राप्त कर लेता है।

२१२ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया ।
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति । (१।३।१४)

(हे अज्ञान से ग्रस्त लोगो!) उठो जागो
और श्रेष्ठ जनों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो।
जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण होती है और छुई नहीं जा सकती,
बुद्धिमान् पुरुष आत्म ज्ञान के मार्ग को
उसी प्रकार दुर्गम बतलाते हैं।

२१३ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । (।१।१)

परमात्मा ने इन्द्रियों को स्वभावतः बहिर्मुख बनाया है।
इसीलिए मनुष्य बाहर का देखता है भीतर अन्दर की ओर नहीं।
कोई विरला धीर पुरुष ही इन्द्रियों का संयम करके
अमृतत्व को चाहता हुआ अपनी अन्तरात्मा को देखता है।

अर्थात् कोई विरले धीर पुरुष ही आत्म-परीक्षण अथवा आत्म चिंतन में प्रवृत्त होते हैं।

२१४ पराच: कामाननुयन्ति बालास्
ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते। (२।१।२)

मूढ़ लोग ही बाह्य विषयों के पीछे लगे रहते हैं
वे मृत्यु अर्थात् आत्मा के अध:पतन के विस्तृत जाल में फँस जाते हैं।
परन्तु विवेकी लोग अमृतत्व (अपने शाश्वत स्वरूप) को जानकर,
अध्रुव (=अनित्य) पदार्थों में नित्य तत्त्व की कामना नहीं करते हैं।

मुण्डकोपनिषद्

२१५ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्त:शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:। (३।१।५)

यह आत्मा (अथवा परमात्मा) सत्य तप सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन यति (=संयत जीवन व्यतीत करनेवाले) देखते हैं वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा इसी शरीर के अन्दर वर्तमान है। अर्थात् मनुष्य अपने अन्दर ही अपने विशुद्ध स्वरूप अथवा परमात्मा के दर्शन कर सकता है।

२१६ सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयान:।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ (३।१।६)

सत्य की ही जय होती है असत्य की नहीं
देवताओं के विचरण का मार्ग सत्य से ही विस्तृत है।

पूर्णकाम ऋषिजन सत्य द्वारा ही उस पद को प्राप्त होते हैं जहाँ सत्य का वह परम निधान विद्यमान है।

२१७ यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ (३।१।१०)

जिसका अंतःकरण शुद्ध है पापों से रहित है ऐसा आत्मवेत्ता मन से जिस-जिस लोक (अर्थात् उत्कृष्ट अवस्था) की भावना करता है और जिन जिन कामों (अर्थात् प्राप्तव्य आदर्शों) को चाहता है वह उस-उस लोक को और उन आदर्शों को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है उसे आत्मवेत्ता की अर्चना या उपासना करनी चाहिए।

तैत्तिरीय उपनिषद

२१८ आचार्य का दीक्षान्त उपदेश
वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्।

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः ।

एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ (१।११)

प्रिय स्नातकवर्ग ! विद्या-समाप्ति के अनन्तर आप एक नवीन जीवन म प्रवेश कर रहे ह । उस जीवन की यात्रा में आप जहां भी रहें इस उपदेश का स्मरण रखिये

सत्य बोलिये । अपने कर्तव्य का पालन कीजिये । स्वाध्याय से मुँह न मोड़िये । अपने विद्यामन्दिर की उन्नति के लिये यथाशक्ति सहायता करते हुए अपने गृहस्थधर्म का पालन कीजिये ।

सत्य धर्म आत्मकल्याण तथा समृद्धि के मार्ग से विचलित न होइये उसमें प्रमाद न कीजिये । स्वाध्याय और प्रवचन द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते रहिये और विद्या-प्रचार में तत्पर रहिये । देवों और पितरों के प्रति अपने कर्तव्य का सदा ध्यान रखिये ।

माता पिता गुरु तथा अतिथि में पूज्य बुद्धि रखिये ।

जो श्रेष्ठ कर्म ह उन्हींका अनुसरण करिये । हमारे जो अच्छे आचरण ह उन्हींका अनुकरण कीजिये अन्यों का नहीं । जो विद्वान् हमारे भी मान्य ह उनका उचित सम्मान कीजिये ।

दूसरों की आर्थिक सहायता करना आपका प्रथम कर्तव्य ह परन्तु यह सहायता श्रद्धा से न कि अश्रद्धा से प्रसन्नता से नम्रता से न कि डर से और सहानुभूति तथा प्रेम से करनी चाहिये ।

यदि कभी आपको अपने कर्तव्याकर्तव्य या सदाचार के सबंध में सदेह उपस्थित हो तो जो विचारशील तपस्वी कर्तव्यपरायण शान्त स्वभाव धर्मात्मा विद्वान् हों उनकी सेवा में उपस्थित होकर अपना समाधान करिये और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण कीजिये ।

यही हमारा आपके प्रति अन्तिम आदेश है यही उपदेश ह, यही वेद का रहस्य ह यही शिक्षा है । इसी उपदेश को अपने भविष्य जीवन में सदा सर्वदा ध्यान में रखिये ।

२१९. रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् ? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ॥ (२।७)

यह मूल-तत्त्व या भगवान् रसमय या रस-स्वरूप है । उसी रस को पाकर मनुष्य (या प्राणि-मात्र) आनंद का अनुभव करता है । यदि यह आकाश की भांति सर्वत्र व्याप्त आनंदमय मूल-तत्त्व न होता तो कौन अपान और प्राण-रूप क्रियाओं से युक्त जीवन-मात्र में आनंद का अनुभव करता । वास्तव में यही तत्त्व प्रत्येक प्राणी में आनंद का मूल स्रोत है ।

२२० आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ (२।९)

अपनी अंतरात्मा में निवास करनेवाले ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप को पहचाननेवाले ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् के लिए कहीं से किसी भी भय नहीं होता। अर्थात् वह सर्वथा निर्भय स्थिति को प्राप्त कर लेता है ।

२२१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति (३।१)

जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं
उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से वर्तमान रहते हैं
अंत में जिसको प्राप्त होते हैं जिसमें लीन हो जाते हैं
उसीको जानने की इच्छा करो ।
वही तो ब्रह्म है ।

छान्दोग्योपनिषद्

२२२ त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् (२।२३।१)

धर्म के स्कन्ध (= आधार) तीन हैं
यज्ञ अध्ययन और दान—यह प्रथम स्कन्ध है
तप अर्थात् कष्टसहिष्णुता दूसरा स्कन्ध है

श्रम और संयम का जीवन व्यतीत करते हुए
गुरुकुल में वसित होकर विद्या-ग्रहण तीसरा स्कंध है।

२२३ यो वै भूमा तत्सुखं ।
नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखं । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' ॥ (७।२३।१)

जो विशाल है, महान् है वही सुख-रूप है।
अल्प में लघु में सुख नहीं रहता।
निस्संदेह महान् ही सुख है।
इसलिए महान् का ही
विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए।

२२४ यो वै भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥ (७।२४।१)

जो महान है वही अमृत है शाश्वत है
जो लघु है वह मर्त्य है विनाश-शील है।

२२५ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि'। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष ॥ (७।२६।२)

आहार की (= इंद्रिय द्वारा ग्रहण किए गए विषयों की) शुद्धि होने पर सत्त्व (= अंतःकरण) की शुद्धि होती है। सत्त्व की शुद्धि होने पर ध्रुव अर्थात् स्थायी स्मृति का लाभ होता है। उस स्मृति के लाभ में (अर्थात् सर्वदा जागरूक अमूढ़ ज्ञान की प्राप्ति में) मनुष्य की समस्त ग्रंथियाँ खुल जाती हैं अर्थात् जीवन की समस्त उलझनों का समाधान हो जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद

२२६ असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मामृतं गमय ॥ (१।३।२८)

हे मेरे आराध्य !
मुझे असत्य में सत्य की ओर ले चलिए
मुझे अंधकार में प्रकाश की ओर ले चलिए

मुझे मृत्यु (= अपूर्ण जीवन) से अमृत (= पूर्णता) की ओर ले चलिए ।

२२७ अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ (२।४।२)

मनुष्य वित्त से धन से अमृतत्व की पूर्णसंतोष की शाश्वत जीवन की आशा नहीं कर सकता ।

२२८ न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि !
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या
विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥ (२।४।५)

देखो, संसार में कोई भी पदार्थ अपने ही रूप में प्रिय नहीं होता । आत्मा की कामना के लिए ही सब कोई प्रिय होता है । इसलिए, अयि मैत्रेयि ! आत्मा को ही अपने ही स्वरूप को, देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए और विशेष चिन्तन करना चाहिए । आत्म स्वरूप के ही दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से विश्व का सारा रहस्य विदित हो जाता है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

२२९ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ (६।२०)

जब मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट सकेंगे, तब स्वप्रकाश परमदेव के ज्ञान के बिना ही दुःख का अन्त हो सकेगा । अर्थात् जिस प्रकार यह असम्भव है वैसे ही परमात्मा को बिना जाने दुःख का अन्त होना उतना ही असम्भव है जैसे कि आकाश को चमड़े के समान लपेटना ।

नारायणोपनिषद

२३० यथा वृक्षस्य सपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति,
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति ॥ (२।१?)

जैसे फूले हुए वृक्ष की सुगंध दूर-दूर तक फैल जाती है वैसे ही पवित्र कर्मों की सुगंध दूर-दूर तक पहुंच जाती है।

२३१ सत्यं परं परं सत्यं ।
सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन ।
सतां हि सत्यं ।
तस्मात्सत्ये रमन्ते (३।०८)

सत्य सर्वोत्कृष्ट है जो सर्वोत्कृष्ट है वह सत्य-स्वरूप है।
जो सत्य का आश्रय लेते हैं वे स्वर्ग से आत्मोत्कर्ष की स्थिति से च्युत नहीं होते।
सत्पुरुषों का स्वरूप ही सत्य-मय होता है
इसलिए वे सदा सत्य में ही रमण करते हैं

मुक्तिकोपनिषद

२३२ शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि (२।५।६)

मनुष्य की वासनारूपी नदी के शुभ और अशुभ दो मार्ग हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण प्रयत्न से उसे शुभ मार्ग में ही प्रवृत्त करे।

२३३ हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयदादौ स्वकं मनः (२।६?)

इस भी जीवनयात्रा के संबंध में जागरूक और सावधान मनुष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य यही है कि वह हाथ से हाथ को पीसकर दांतों से दांतों को पीसकर और समस्त शरीर से तनकर पहले अपने मन को जीत ले अपने वश में करे।

चौथा अध्याय

वैदिक परिशिष्ट

निरुक्त

वेद के छ अङ्गों में यास्कमुनि-कृत निरुक्त का प्रमुख स्थान है। शब्दों के निर्वचन द्वारा वेद के मंत्रों के अर्थ-ज्ञान में सहायता देना ही इसका मुख्य विषय है। इसका समय लगभग ६०० ई० पू० समझा जाता है। इस महत्व के ग्रन्थ में कुछ अमूल्य सुभाषित नीचे दिये जाते हैं।

२१४ नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न
पश्यति। पुरुषापराध स भवति। (१।१६)

अन्धा मनुष्य स्तम्भ या ठूठ को नहीं देखता और टकराकर चोट खा जाता है तो इसमें उसीका अपराध होता है स्थाणु का नहीं।

२१५ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। (१।१८)

जो वेद को पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता वह भार के ढोने हारा केवल स्थाणु या स्तम्भ के समान है।

२१६ यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥
(१।१८)

जो पढ़ा लिया हुआ शास्त्र अर्थ ज्ञान के बिना केवल पाठ-मात्र से पढ़ा जाता है वह प्रकाश और प्रगति को नहीं देता अर्थात् निरर्थक ही रहता है जैसे सूखा ईंधन अग्नि के बिना कभी ईंधन नहीं जलता।

२१७ विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम

गोपाय मा य शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय
न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णा
वदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते
विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीया
स्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह
तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन ॥ (२।४)

विद्या विद्वान के पास आई और उसने कहा—
तुम मेरी रक्षा करो मैं तुम्हारी निधि हूँ
निन्दक कुटिल और असंयत के लिए मुझे न दो
तभी मैं शक्ति और सामर्थ्य से युक्त रह सकती हूँ।
जो बिना पीड़ा देते हुए और मानो अमृत का सेवन कराते हुए
सत्य-रूप ज्ञान से कानों को लाभ देता है
शिष्य का कर्तव्य है कि उसको पिता और माता समझे
और कभी भी उससे द्रोह न करे।
जो पढ़ाए गए शिष्य मन-वचन-कर्म से
गुरु का आदर नहीं करते हैं
न तो वे गुरु के स्नेह और कृपा के पात्र होते हैं
और न उनका विद्याध्ययन सफल होता है।

पाचवा अध्याय

१

वाल्मीकिरामायण

आदिकवि महामुनि वाल्मीकि द्वारा रचित वाल्मीकिरामायण का महत्त्व संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति दानो की दृष्टि से अत्यधिक है। भारतीय संस्कृति के आदर्शों की मर्यादा की स्थापना में इसका बड़ा हाथ रहा ह। संस्कृत के समस्त कवि इसस प्रभावित होत रह ह। स्वभावत यह सुन्दर उदात्त विचारा स परिपूर्ण ह। नीच क कछ महत्त्व के सुभाषित इसी ग्रन्थ स दिये जाते ह।

२४१ आहु: सत्यं हि परमं धम धर्मविदो जना ।

(२।१४।)

धम का जाननवाले लोग सत्य का ही सर्वोत्कृष्ट धम बतलात ह।

२४२ दुर्लभं हि सदा सुखम् । (२।१८।१३)

मनुष्य सदा सुखी ही रह, यह दुलभ है।

२४३ रामो द्विर्नाभिभाषते । (२।१८।३०)

राम का यह स्वभाव है कि व एक बार जिस बात का कह दत ह फिर उसका प्रतिवाद नही करत।

२४४ गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानत ।

उत्पथ प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥ (२।२१।१३)

अभिमानी कार्य-अकार्य का न जाननवाल और दुष्ट माग पर चलन वाले गुरु को भी दण्ड दना आवश्यक हाता ह।

२५६ आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्शयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखात्लभते सुखम् ॥ (३।९।३१)

बुद्धिमान् लोग प्रयत्नपूर्वक विभिन्न प्रकार के नियमों से अपनको कृश करके (अर्थात् सयत जीवन व्यतीत करते हुए कष्टों का सहकर) जीवन के लक्ष्यभूत तथा वास्तविक सुख के साधन धर्म का प्राप्त करते हैं। सुख स सुख की प्राप्ति नहीं होती।

२५७ अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता ।
आपदाशङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ (३।२४।११)

कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह आनेवाली आपत्तियों की शंका करता हुआ उनके आने से पहले उनका प्रतीकार करे।

२५८. कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर ।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम् ॥ (३।२९।४)

अयि राक्षस (=खर)! लोक के लिए हानिकारक कर्म करनेवाले क्रूर मनुष्य का सबकोई, आये हुए दुष्ट सर्प के समान मार डालते है। (खर के प्रति राम का वचन)

२५९ न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥
(३।२९।७)

पाप करनेवाले क्रूर मनुष्य लोक द्वारा जुगुप्सित होकर, नष्ट हुई जड़ों वाले वृक्षों के समान ऐश्वर्य का पाकर भी देर तक स्थित नहीं रहते। अर्थात् वे बहुत शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

२६० न चिरात्प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥ (३।२९।९)

हे राक्षस ! खाय गए विष मिले अन्नों के समान लोक में पाप-कर्मों का फल शीघ्र ही मिल जाता है। (खर के प्रति राम का वचन)।

२६१ परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतरं महत्।
(३।३८।३०)

दूसरे की स्त्री से अनुचित सम्बन्ध से बड़ा पाप दूसरा नहीं है।

२६२ स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत्॥
तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम्॥
(३।५०।१८)

हे सौम्य ! उसी भार को उठाना चाहिए जिससे मनुष्य को कष्ट न हो। उसी अन्न का खाना चाहिए जो रोग को उत्पन्न किये बिना पच जाय।

२६३ यत् कृत्वा न भवेद्धर्मो न कीर्तिर्न यशो ध्रुवम्।
शरीरस्य भवेत्खेदः कस्तत्कर्म समाचरेत्॥
(३।५०।१९)

जिस काम को करके न तो धर्म होता है न कीर्ति और न स्थायी यश, उल्टा शरीर को कष्ट होता है उसको कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं।

२६४ मुमूर्षूणां तु सर्वेषां यत्पथ्यं तन्न रोचते॥
(३।४१।१७)

जो मरने वाले होते हैं उन सबको जो पथ्य है वह रुचिकर नहीं होता।

२६५ उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम्॥
(४।१।१२१)

आर्य ! उत्साह में बड़ा बल होता है
उत्साह से बढ़कर दूसरा बल नहीं है
संसार में उत्साह-सम्पन्न मनुष्य के लिए

कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।

२६६ दुःखितः सुखितो वापि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ।
(४।८।४०)

दुःख में अथवा सुख में, मित्र ही सदा मित्र का सहारा होता है।

२६७ ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ॥
(४।१८।१३)

धर्म के मार्ग पर चलनेवाले के लिए ज्येष्ठ भ्राता, पिता, और विद्या का देनेवाला गुरु ये तीनों ही पिता है।

२६८. अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम् ।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ॥
(४।३०।७१)

अपने पास आये हुए प्रार्थी लोगों की तथा पूर्व में अपना उपकार करनेवाला की आशा को उसकी पूर्ति का वचन देकर जो मार देता है वह संसार में सबसे नीच व्यक्ति है।

२६९ गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥
(४।३४।१२)

गौ की हत्या करनेवाला, सुरा-पान करनेवाला चोर और जिसका व्रत भङ्ग हो चुका है इनके लिए सत्पुरुषों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है। परन्तु कृतघ्न के विषय में कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

२७० न कश्चिन्नापराध्यति । (४।३६।११)

किसीसे भी कोई अपराध न हो ऐसी बात नहीं है।

२७१ अनिर्वेदं च दाक्ष्यं च मनसश्चापराजयम् ।
कार्यसिद्धिकराण्याहु ॥

(४।४९।६)

निर्वेद (=ग्लानि) का न होना दक्षता और मन में पराजय की भावना का न होना ये कार्य की सिद्धि करनेवाले गुण हैं।

२७२ न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ (४।६४।९)

मन में विषाद को नहीं लाना चाहिए,
विषाद में अत्यधिक दोष रहते हैं।
क्रुद्ध सर्प जैसे बच्चे पर घात करता है
ऐसे ही विषाद मनुष्य पर घात करता है।

२७३ अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।

(५।१२।१०)

अनिर्वेद (=उत्साह) लक्ष्मी का मूल है
अनिर्वेद उत्कृष्ट सुख है।

२७४ विनाशे बहवो दोषा जीवन्प्राप्नोति भद्रकम् ।

(५।१३।४५)

विनाश में बहुत-से दोष रहते हैं। जीवन के रहते हुए ही मनुष्य भलाई को कल्याण को पाता है।

२७५ धिगस्तु परवश्यताम् ।

(५।२ ।२०)

परवश्यता को पराधीनता को धिक्कार है!

२७६ दृश्यमाने भवेत्प्रीतिः सौहृदं नास्त्यदृश्यतः ।

(५। ६।३०)

जो आंख के सामने रहता है उसमें प्रीति होती है। जो आंख के सामने नहीं है उसके साथ सौहार्द नहीं रहता।

२७७ कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्।
"एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि" ॥
(५।३४।६)

"जीते हुए मनुष्य को सौ वर्ष बाद भी आनन्द अवश्य प्राप्त हो जाता है" यह लौकिक कहावत मुझे भली और ठीक ही प्रतीत होती है।

२७८. आनृशंस्यं परो धर्मः। (५।३८।४१)
आनृशंस्य अर्थात् मानवता का समादर परम धर्म है।

२७९ न साम रक्षस्सु गुणाय कल्पते
न दानमर्थोपचितेषु युज्यते।
(५।४१।३)

क्रूर मनुष्यों पर साम अर्थात् मेल की नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार धनसम्पन्न लोगों के प्रति दान की नीति का कोई उपयोग नहीं होता।

२८० कोपं न गच्छन्ति हि सत्त्ववन्तः। (५।५२।१६)
सत्त्ववान् मनुष्य क्रोध नहीं करते।

२८१ वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ॥
(५।५५।५)

क्रुद्ध व्यक्ति कभी भी वाच्य (कहने योग्य) और अवाच्य (न कहने योग्य) का विवेक नहीं करता। क्रुद्ध मनुष्य के लिए न तो अकार्य (न करने योग्य कार्य) होता है और न अवाच्य।

२८२ नाग्निरग्नौ प्रवर्तते । (५।५५।२२)

अग्नि अग्नि को नहीं जलाता है।

२८३ निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥ (६।२।६)

उत्साहहीन दीन और शोक से व्याकुल व्यक्ति के सब काम बिगड़ जाते हैं और वह स्वयं कष्ट को प्राप्त होता है।

२८४ मन्त्रमूलं च विजयं प्रवदन्ति मनस्विनः । (६।६।५)

मनीषियों का कथन है कि विजय या सफलता की जड़ मन्त्रणा या विचार-विमर्श में होती है।

२८५ जानामि शीलं ज्ञातीनां सर्वलोकेषु राक्षस ! ।
हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा ॥
(६।१६।३)

अयि राक्षस ! सारे संसार में भाई-बन्धुओं के स्वभाव को मैं जानता हूँ। ज्ञाति के लोग ज्ञातिवालों के कष्टों में सदा प्रसन्न हुआ करते हैं। (विभीषण के प्रति रावण का वचन)

२८६ यथा पुष्करपत्रेषु पतितास्तोयबिन्दवः ।
न श्लेषमभिगच्छन्ति तथानार्येषु सौहृदम् ॥
(६।१६।११)

जैसे कमल के पत्तों पर पड़ी हुई जल की बूंद नहीं ठहरती वैसे ही अनार्य लोगों में मित्रता स्थिर नहीं होती है।

२८७ आकारश्छाद्यमानोऽपि न शक्यो विनिगूहितुम् ।
बलाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥
(६।१७।६४)

जिसमें सत्य नहीं है वह धर्म नहीं है
जिसमें छल मिला हुआ है वह सत्य नहीं है।

२९७ तपो हि परमं श्रेयः सम्मोहमितरत्सुखम्।

(७।८४।१)

तप (=कष्टसहिष्णुता) ही परम कल्याण को करनेवाला होता है। तप से रहित जो सुख है वह तो बुद्धि के सम्मोह को उत्पन्न करता है।

२
महाभारत

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकिरामायण के बाद महाभारत का स्थान है। महामुनि कृष्णद्वैपायन व्यास इसके कर्ता कहे जाते हैं। यह बड़ा विशालकाय ग्रन्थ है। एक प्रकार से हिन्दु-धर्म का यह विश्व-कोष है। हिन्दु धर्म की समस्त प्रवृत्तियों का मूल प्रायः इसमें मिल जायगा। वाल्मीकि-रामायण के समान ही संस्कृत कवि इसके भी गुणों का गान करते हैं। इसी के दो प्रसिद्धतम अंशों—विदुरनीति और भगवद्गीता—से नीचे के दो भागों (क ख) में कुछ चुने हुए सुभाषित-रत्न दिये जाते हैं।

(क) विदुर-नीति

पण्डित के लक्षण

२९८ आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ (१।२०)
यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।

समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ (१।२४)
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ (१।२८)

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ (१।२९)

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ (१।३१)

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ (१।६५)

अपने स्वरूप का ज्ञान, सत्कार्यों के लिए उद्योगशील होना, सहन-शीलता और धर्माचरण में तत्परता—इन गुणों के कारण जो कभी अपने जीवन के लक्ष्य से च्युत नहीं होता, मन उसकी ओर बढ़ता ही जाता है, उसीको पण्डित कहते हैं।

सर्दी, गर्मी, भय, अनुराग, समृद्धि अथवा असमृद्धि (= दरिद्रता)—ये सब जिसके काम में विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है।

पण्डितों की बुद्धि रखनेवाले मनुष्य न तो अप्राप्य वस्तु की इच्छा करते हैं, न नष्ट हुई वस्तु के लिए शोक करते हैं और न विपत्तियों के आने पर मोह को प्राप्त होते हैं।

जो निश्चयपूर्वक कार्य का प्रारम्भ करता है, कार्य के बीच में नहीं रुकता, समय को व्यर्थ नहीं जाने देता और अपनेको वश में रखता है, उसीको पण्डित कहते हैं।

जो अपने सम्मान पर फूल नहीं जाता तथा अनादर होने पर दुःख से संतप्त नहीं होता और जो विभिन्न परिस्थितियों में गंगा के कुंड के समान अक्षोभ्य रहता है, वही पण्डित कहलाता है।

१०६ अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ (१।८७)

धन की प्राप्ति और सदा स्वस्थ रहना
प्रिय तथा मधुरभाषिणी स्त्री,
आज्ञाकारी पुत्र और धन देनवाली विद्या
हे राजन् ! इस लोक के य छ सुख हैं ।

१०७ आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन ॥ (१।९४)

नीरोग होना ऋणी न होना प्रवासी न होना, सज्जनों का साथ होना स्वाधीन आजीविका होना और भयरहित निवास होना—संसार के य छ (मुख्य) सुख हैं ।

१०८ अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ (१।१०४)

बुद्धि कुलीनता इंद्रियसंयम अध्ययन, शूरता मितभाषण शक्ति के अनुसार दान देना और किये हुए उपकार को मानना—ये आठ गुण पुरुष की शोभा को बढ़ाते हैं ।

१०९ वाक्संयमो हि नृपते! सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ (२।७६)

हे राजन्! वाणी का संयम अत्यन्त ही कठिन समझा जाता है। ऐसी बातें जो वास्तव में अर्थपूर्ण भी हों और विचित्र भी बहुत नहीं कही जा सकती।

(ख) भगवद्गीता

आत्मा की नित्यता

११० न जायते म्रियते वा कदाचि
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (२।२२)

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ (२।२३)

यह आत्मा न कभी जन्म लेता है न कभी मरता है
अथवा न यह आत्मा होकर दुबारा होनेवाला है।
यह अजन्मा नित्य शाश्वत और पुरातन है
शरीर के नष्ट हो जाने पर भी इसका नाश नहीं होता।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर
नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है

वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर
नये शरीरों को प्राप्त कर लेता है।

इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं
न इसको आग जला सकती है।
न इसको जल गीला कर सकता है
न वायु सुखा सकती है।

१११ तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि। (२।२७)

इसलिए ऐसी बात के लिए, जो टाली नहीं जा सकती तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

११२ सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। (२।३४)

सम्मानित मनुष्य के लिए अपकीर्ति मरण से भी बुरी होती है।

११३ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ (२।४०)

कसम्यबुद्धि से कर्म करने के मार्ग में न तो प्रयत्न के विफल होने की आशंका होती है न किसी प्रकार का पाप या दोष प्राप्त होता है। इस धर्म का थोड़ा अंश भी सद्भावना से किया हुआ छोटा काम भी मनुष्य को महा भय से बचा सकता है।

११४ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (२।४७)

तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है उसके फल में बिलकुल नहीं। इसलिए न तो कर्म-फल की अपेक्षा करो और न ऐसा करो कि अपने कर्तव्य कर्म को ही छोड़ दो।

३१५ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(२।४८)

हे अर्जुन ! कर्म-फल में आसक्ति का छोड़कर सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि रखकर और इस प्रकार योग में स्थित होकर कर्मों को करो। उपर्युक्त समत्व-भाव ही योग कहा जाता है।

३१६ बुद्धौ शरणमन्विच्छ । (२।४९)

तुम्हें बुद्धि में ही शरण लेनी चाहिए।

३१७ कृपणाः फलहेतवः । (२।४९)

फल की कामना रखकर ही कर्म में प्रवृत्त होनेवाले एक प्रकार से दीन होते हैं।

३१८ योगः कर्मसु कौशलम् । (२।५०)

योग अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में समत्व भावना ही कर्मों के विषय में कौशल या बुद्धिमत्ता है।

३१९ स्थितधीर्मुनिरुच्यते । (२।५६)

प्रत्येक अवस्था में जिसकी बुद्धि स्थिर रहती है, चंचल नहीं होती, वही मुनि कहलाता है।

३२० वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । (२।६१)

इन्द्रियों पर जिसका पूरा अधिकार होता है, उसीकी बुद्धि प्रतिष्ठित अथवा सुस्थिर हो सकती है।

३२१ श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप । (४।३३)

हे अर्जुन ! उस यज्ञ की अपेक्षा जिसमें धन से अग्नि द्रव्य की अपेक्षा होता है, ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है।

३२२ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ (४।४०)

जो अज्ञानी है, जो श्रद्धा से रहित है और जो संशयात्मा है वह नष्ट हो जाता है। संशयात्मा मनुष्य के लिए न तो यह लोक है न परलोक। वह कभी सुखी नहीं हो सकता।

३२३ उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ (६।५-६)

मनुष्य को चाहिए कि जीवन में अपने सहारे से ही अपना उद्धार करे, अपनको हीन-भावना से (मैं दीन हूँ, हीन हूँ, कुछ नहीं कर सकता—इस भावना से) बचाये। मनुष्य स्वयं ही अपना बन्धु है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

जिसने अपनेको (अपने मन तथा इंद्रियों को) जीत लिया है उसका आत्मा ही उसका बन्धु है। जिसका मन और इंद्रियां अपने वश में नहीं है उसका आत्मा ही उसके शत्रु के समान है।

३२४ नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति । (६।४०)
हे अर्जुन! भलाई करनेवाले की दुर्गति नहीं होती।

दैवी तथा आसुरी संपद्

३२५ अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ (१६।१-४)

मनुष्यों की प्रवृत्तियां दो प्रकार की होती हैं, एक दैवी, दूसरी आसुरी। इन्हींको गीता में क्रमशः दैवी संपद् और आसुरी संपद् इन नामों से कहा गया है।

उनमें से दैवी संपद्वाले मनुष्य के लक्षण ये होते हैं—अभय, चित्त की पवित्रता, ज्ञानमार्ग में तत्परता, सात्विक दान, इंद्रियों का संयम, निष्काम भावना से भगवद्भक्ति, स्वाध्याय की प्रवृत्ति, कष्टसहिष्णुता, शान्ति, सरल स्वभाव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति का न होना, दूसरे की निंदा न करना, प्राणियों पर दया, विषयों के लिए लोलुप न होना, मृदु-भाव, बुरे काम के करने में लज्जा, चंचलता का न होना, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह और दुरभिमान से बचना।

आसुरी संपद्वाले मनुष्य के लक्षण होते हैं—पाखंड, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान।

३२६. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ (१६।२१)

काम, क्रोध और लोभ, नरक के ये तीन प्रकार के द्वार हैं। ये आत्मा का नाश करनेवाले हैं। इसलिए मनुष्य इन तीनों को छोड़ दे।

३२७. श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः । (१७।३)

यह पुरुष श्रद्धामय है। इसीलिए प्रत्येक पुरुष का स्वरूप उसकी श्रद्धा के अनुरूप ही होता है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी श्रद्धा अथवा आस्था से ही बनता है।

३३१ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः । (१८।४५)

मनुष्य अपने-अपने कर्तव्य कर्म को तत्परता के साथ करता हुआ पूर्ण सफलता पा सकता है ।

३३२ श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । (१८।४७)

अपने धर्म का कुछ त्रुटि के साथ भी पालन अच्छी तरह से भी किये गए दूसरे के धर्म से कहीं अच्छा होता है ।

छठा अध्याय

भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म और बौद्धधर्म की कई प्रकार से बहुत बड़ी देन है। दोनों धर्मों का साहित्य बड़ा विस्तृत है। जैनधर्म का मौलिक धार्मिक साहित्य प्राचीन प्राकृत भाषा में और बौद्धधर्म का पालि भाषा में है। दोनों धर्मों के साहित्य में आत्मविश्वास, चारित्रशुद्धि, अहिंसा, लोक-कल्याण जैसी उदात्त भावनाओं को प्रमुखता दी गई है। नीचे दो भागों में हम क्रमशः उन्हीं के साहित्य से कुछ सुन्दर और उदात्त विचार देते हैं। प्रथम भाग में सुविधा की दृष्टि से संस्कृत में ही सुभाषित दिये गये हैं और दूसरे में पालि भाषा में।

१

ज्ञानार्णव

[ज्ञानार्णव (संस्करण रायचन्द्र-जैन-शास्त्रमाला) ग्रन्थ की जैनधर्म में अच्छी मान्यता है। विचार और भाषा दोनों दृष्टियों से यह ग्रन्थ बड़ा सुन्दर है। इसके लेखक श्री शुभचन्द्राचार्य थे जिनका समय प्रायः ग्यारहवीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ माना जाता है।]

३३३ प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते ॥ (पृ० ६)

सत्पुरुषों की उत्तम वाणी दूसरों को जगाने के लिए, सत्यासत्य के विवेक के लिए, लोक-कल्याण के लिए, जगत् में शान्ति के लिए और वास्तव में वास्तविक तत्त्व के उपदेश के लिए प्रवृत्त हुआ करती है।

३३४ रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद् ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम् ॥ (पृ० ९१)

जो मनुष्य वस्तुतः रत्न त्रय (=सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र) को प्राप्त न कर ध्यान-मार्ग में अग्रसर होना चाहता है वह मूर्ख आकाश के फूलों से बन्ध्या के पुत्र के लिए सेहरा (=मौर) बनाना चाहता है। भावार्थ—रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना चित्त एकाग्र और शांत नहीं हो सकता।

३३५ तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम्।
पापक्रियानिवृत्तिश्चरित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण॥ (पृ० ९१)

भगवान् जिनेंद्र ने तत्त्व विषयक रुचि अथवा श्रद्धा को सम्यग्दर्शन, तत्त्व-विषयक विशद ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और पाप-कर्मों से निवृत्ति को सम्यक्-चारित्र कहा है।

३३६ हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं
हिंसैव दुरितार्णवः।
हिंसैव नरकं घोरं
हिंसैव गहनं तमः॥ (पृ० ११२)

हिंसा (=दूसरे को पीड़ा देना अथवा दूसरे के व्यक्तित्व का अनादर) ही दुर्गति का द्वार है। हिंसा ही पाप का समुद्र है। हिंसा ही घोर नरक है। हिंसा ही महान् अंधकार है।

३३७ अहिंसैव जगन्माता-
हिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी
श्रीरहिंसैव शाश्वती॥ (पृ० ११५)

अहिंसा ही जगत् की माता है। अहिंसा ही आनन्द का मार्ग है। अहिंसा ही उत्तम गति है। अहिंसा ही शाश्वती श्री या शोभा है।

३३८ यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम्॥ (पृ० १२०)

संसार में प्राणियों के दुःख शोक और भय के मूल में जो कुछ दुर्भाग्य आदि है उन सबको हिंसा से ही उत्पन्न हुआ समझना चाहिए।

३३९ यः संयमधुरां धत्ते धैर्यमालम्ब्य संयमी ।
स पालयति यत्नेन वाग्वने सत्यपादपम् ॥ (पृ० १२१)

जो संयम से रहनेवाला व्यक्ति धैर्य का सहारा लेकर संयम की धुरा को धारण करता है वही वाणी के वन में सत्य-रूपी वृक्ष का यत्नपूर्वक रक्षा करता है। अर्थात् धैर्य और संयम के बिना मनुष्य सत्य की रक्षा नहीं कर सकता।

३४० यस्तपस्वी जटी मुण्डो नग्नो वा चीवरावृत ।
सोऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥(पृ० १२६)

जो तपस्वी जटाधारी सिर मुंडाये हुए वस्त्रहीन अथवा वस्त्रधारी होते हुए भी असत्य बोलता है वह चाण्डाल से भी बुरा है।

३४१ एकतः सकलं पापमसत्योत्थं ततोऽन्यतः ।
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयो ॥ (पृ० १२६)

तुला (=तराजू) में एक ओर समस्त पापों को और दूसरी ओर असत्य से उत्पन्न हुए पाप को रखकर तोलने पर आर्य पुरुष दोनों को बराबर ही कहते हैं। अर्थात् असत्य अकेला ही समस्त पापों के बराबर है।

३४२ प्रसन्नोन्नतवृत्तानां गुणानां चन्द्ररोचिषाम् ।
सघातं घातयत्येव सकृदप्युदितं मृषा ॥ (पृ० १२७)

एक बार भी बोला हुआ असत्य चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल और उदात्त गुणों के समूह को नष्ट कर देता है। अर्थात् असत्य वचन ऐसा मलिन होता है कि वह चंद्र-सदृश निर्मल गुणों को भी मलिन कर देता है।

३४३ गुणा गौणत्वमायान्ति याति विद्या विडम्बनाम् ।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्याधत्ते पदम् ॥ (पृ० १२१)

चोरी करने से मनुष्यों के गुण गौण हो जाते हैं अर्थात् उन्हें कोई नहीं पूछता विद्या निकम्मी हो जाती है और अकीर्ति उनके सिर पर पग रख लेती है अर्थात् सर्वत्र उनकी बुराई होने लगती है।

३४४ एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥ (पृ १३३)

तीनों लोकों में ब्रह्मचर्य नाम का व्रत ही प्रशंसनीय है क्योंकि विशुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत को पालनेवाले पूज्य पुरुषों द्वारा भी पूजित होते हैं।

३४५ नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ (पृ० १३३)

अल्पशक्ति शीलरहित, दीन और इंद्रियों से जीते गए लोग इस ब्रह्मचर्य-व्रत का स्वप्न में भी पालन नहीं कर सकते।

३४६ अयमात्मा स्वयं साक्षाद् गुणरत्नमहार्णवः ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥ (पृ० २७०)

यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुण-रूपी रत्नों से भरा हुआ समुद्र है यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्वत्र गतिवाला परमपद में स्थित (=परमेष्ठी) और सब प्रकार की कालिमा से रहित (=निरंजन) है।

३४७. यदिह जगति किंचिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं
भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः ।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठं
भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव ॥ (पृ० २२९)

जो कुछ इस जगत् में विस्मय को उत्पन्न करनेवाला
सर्प मनुष्य और देवताओं में उत्कृष्ट सामर्थ्य है
वह सब केवल आत्मा में ही स्थित है—ऐसा मानकर
हे मनुष्यो ! तुम निश्चल-चित्त होकर निरंतर अपने आत्मा में ही विश्राम करो

३४८ तदस्य कर्तुं जगदद्विलीनं
तिरोहितास्ते सहजैव शक्तिः ।
प्रबोधितस्तां समभिव्यनक्ति
प्रसह्य विज्ञानमयः प्रदीपः ॥ (पृ० २३०)

समस्त जगत को अपने प्रभाव से प्रभावित करनेवाली इस आत्मा की स्वाभाविक शक्ति साधारण अवस्था में छिपी हुई रहती है। प्रज्वलित किया हुआ विज्ञान का प्रदीप उसको बलपूर्वक प्रकट कर देता है।

अर्थात् आत्मा की अपनी स्वाभाविक शक्ति बड़ी प्रभावशाली होते हुए भी *साधारणतया छिपी रहती है। ज्ञान और विद्या द्वारा ही उस महान्* शक्ति की अभिव्यक्ति की जा सकती है।

३४९ मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥ (पृ० २३४)

निःसंदेह मन की शुद्धि से ही आत्मा की शुद्धि होती है। मन की शुद्धि के बिना केवल शरीर को कष्ट देना व्यर्थ ही है।

३५० अज्ञातस्वस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते ।
आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम् ॥ (पृ० १९)

जिसने अपने स्वरूप को नहीं जान लिया है वह परमात्मा को नहीं जान सकता। इसलिए परम पुरुष परमात्मा को जानने के लिए पहले अपने को ही निश्चयपूर्वक जानना चाहिए।

३५१ धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्म स्थितिलक्षण ।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिस्थिती उदाहृते (पृ० ८४१)

धर्म प्रगतिशील होता है और अधर्म स्थितिशील । इसलिए क्रमश धर्म और अधर्म के योग से ही पदार्थों की गति और स्थिति कही जाती है।

२

धम्मपद

[भगवद्गीता के समान ही बौद्ध धर्मानुयायियों में धम्मपद का अत्यधिक प्रचार है। इसके अनेक भाषा संस्करण विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध हैं। यह पालि भाषा में है।]

३५२ नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ (५)

इस संसार में वैर से वैर कभी शांत नहीं होते । अवैर अर्थात् मैत्री से ही वैर शांत होते हैं। यह नियम सदा से चला आया है।

३५३ अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो ।
अबलस्सं व सीघस्सो हित्वा याति सुमेधसो ॥ (२९)

प्रमादी लोगों में अप्रमादी और (अज्ञान की निद्रा में) सोते हुए लोगों में जागरणशील बुद्धिमान् मनुष्य दुर्बल घोड़े से तेज घोड़े के समान आगे बढ़ जाता है।

३५४ चित्तं दन्तं सुखावहं । (३५)

दमन किया हुआ चित्त सुख-दायक होता है।

३५५ नत्थि जागरतो भयं । (३९)

जागते हुए को भय नहीं होता।

३५६ यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं ।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ॥ (२१)

(कथनानुसार) आचरण न करनेवाले की सुभाषित वाणी सुन्दर वर्णयुक्त (किन्तु) गंधरहित फूल के समान ही होता है।

३५७ यो बालो मञ्ञती बाल्यं पण्डितो वापि तेन सो ।
बालो च पण्डितमानी स वे बालो'ति वुच्चति ॥ (६३)

जो मूर्ख अपनी मूर्खता को समझता है उतने अंश में वह पण्डित है। असली मूर्ख तो उसको कहते हैं जो मूर्ख होते हुए भी अपने को पण्डित समझता है।

३५८ अत्तानं दमयन्ति पण्डिता । (८०)

पण्डितजन अपना दमन करते हैं।

३५९ अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥ (८५)

जो पार पहुंचते हैं मनुष्यों में ऐसे थोड़े ही होते हैं। और लोग तो ऐसे ही हैं जो किनारे-किनारे ही दौड़ते हैं।

३६० मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं ।
एकञ्च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये ॥
सा येव पूजना सेय्यो यञ्चे वस्ससतं हुतं । (१०६)

कोई मनुष्य सहस्र (दक्षिणा) देकर सौ वर्ष तक प्रति मास यज्ञ करता है दूसरी ओर वह विशुद्ध आत्मावाले की मुहूर्त भर भी पूजा करता है तो सौ वर्ष के हवन से वह मुहूर्त भर की पूजा ही अच्छी है।

३६१ विसं जीवितुकामो'व पापानि परिवज्जये । (१२३)

जीने की इच्छावाला मनुष्य जैसे विष को छोड़ देता है उसी प्रकार मनुष्य को पाप छोड़ देना चाहिए।

१६२ न विज्जती सो जगतिप्पदेसो ।
यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चू । (१२८)

संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ रहनेवाले को मृत्यु न दबाये।

१६३ अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये । (१२९)

मनुष्य को चाहिए कि सभी को अपने जैसा समझकर न किसी को मारे न मरवाये।

१६४ अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिबद्दो'व जीरति ।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥ (१५२)

अल्पश्रुत अथवा मूर्ख मनुष्य बैल की तरह बढ़ता है। उसका मांस बढ़ता है, उसकी बुद्धि नहीं बढ़ती।

१६५ मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य । (१६७)

मनुष्य को मिथ्या धारणा से बचना चाहिए।

१६६ उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य । (१६८)

मनुष्य को उठना चाहिए, प्रमाद नहीं करना चाहिए।

१६७ निन्दन्ति तुण्हीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं ।
मितभाणिनम्पि निन्दन्ति नत्थि लोके अनिन्दितो ॥ (२२७)

लोग चुप रहनेवाले की निन्दा करते हैं, बहुत बोलनेवाले की निंदा करते हैं मितभाषी की भी निन्दा करते हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं है जिसकी निंदा न होती हो।

३६८. असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला घरा । (२४१)

मन्त्रों का मल अस्वाध्याय और घर (=कुटुंब) का मल अनुत्थान (=उन्नति के काम में न लगना) होता है। अर्थात् जैसे स्वाध्याय न करने से मन्त्र नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार उन्नति के कार्यों के न करने से घर या कुटुंब नष्ट हो जाते हैं।

३६९. न जटाहि न गोत्तहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥ (३°)

न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य और धर्म है वही पवित्र और वही ब्राह्मण है।

सातवाँ अध्याय

इस अध्याय में तीन भागों में, क्रमशः अर्थशास्त्र चाणक्य-सूत्र और मनुस्मृति से चुने हुए सुभाषित दिये जाते हैं। कौटिल्य अथवा चाणक्य आचार्य का बनाया हुआ अर्थशास्त्र भारतीय राजनीति-शास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसका समय लगभग चौथी शताब्दी ई० पू० हो सकता है। चाणक्यसूत्र भी उन्हींका बनाया हुआ समझा जाता है। मनुस्मृति तो प्रसिद्ध ही है। उपलब्ध धर्मशास्त्रों में यह प्राचीनतम और प्रमुखतम समझी जाती है। अपनी-अपनी दृष्टि से तीनों ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है।

१

अर्थशास्त्र

१७० न कंचिदवमन्येत सर्वस्य शृणुयान्मतम् ।
बालस्याप्यर्थवद्वाक्यमुपयुञ्जीत पण्डितः ॥ (१।१५)

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह किसीका अपमान न करे, सबके मत को सुने, और एक बालक की भी अच्छी बात को सुनकर उसका उपयोग करे।

१७१ अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च ।
प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चार्थसम्पदम् ॥ (१।१९)

उन्नति के लिए सचेष्ट न होने से जो प्राप्त है और जो भविष्य में प्राप्त हो सकता है उन दोनों का नाश निश्चित है। उन्नति के लिए सचेष्ट होने से ही फल प्राप्त होता है और मनुष्य अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है।

१७२ स्वयमपरिभूतं नावमन्येत ॥ (५।६)

जो वस्तु स्वयं उपस्थित हो उसका अवमान न करना चाहिए।

३७३ बिल्वं बिल्वेन हन्यताम् । (१।२)

बल का बेल से ही तोड़ना चाहिए। अर्थात् मनुष्यों का मान उनमें आपस में ही संघर्ष कराकर करना उचित है।

३७४ नक्षत्रमति पृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते ।
अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारका: ॥ (९।४)

जो मूर्ख (किसी काम के करने के लिए) नक्षत्र के विषय में अति पूछ-ताछ करता है उसका कार्य उसके हाथ से निकल जाता है। वास्तव में कर्तव्य कर्म स्वयं अपना नक्षत्र होता है उसी को देखना चाहिए। तारे क्या कर सकते हैं? अर्थात् कुछ नहीं।

२

चाणक्य सूत्र

३७५ जितात्मा सर्वार्थैः समुज्यते । (१०)

जिसने अपने को जीत लिया है उसके सब अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

३७६ मन्त्ररक्षणे कार्यसिद्धिर्भवति । (२३)

मन्त्र की रक्षा करने पर काम की सिद्धि होती है।

३७७ अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम् । (७)

वाणी की कठोरता अग्नि के दाह से भी अधिक कष्ट देती है।

३७८ पुरुषकारमनुवर्तते दैवम् । (९४)

भाग्य पुरुषार्थ का अनुसरण करता है।

१७९ परीक्ष्यकारिणि श्रीश्चिरं तिष्ठति । (११३)

जो परीक्षा करके काम में प्रवृत्त होता है उसमें लक्ष्मी चिरकाल तक निवास करती है ।

१८० न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धिः । (१२१)

जो भाग्य में ही विश्वास करते हैं उनके कार्य की सिद्धि नहीं होती ।

१८१ दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम् । (२५७)

दरिद्रता मनुष्य का जीते हुए मरण है ।

१८२ आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः । (३४३)

मूर्ख मनुष्य अपने दोषों को नहीं देखता दूसरे के दोषों को ही देखता है ।

१८३ ऋणशत्रुव्याधिष्वशेषः कर्तव्यः । (४३५)

ऋण शत्रु और रोग का शेष न छोड़ना चाहिए ।

१८४ जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ । (४४०)

मनुष्य का वृद्धि और विनाश, उन्नति और अवनति जिह्वा के अधीन होते हैं ।

१८५ आत्मा न स्तोतव्यः । (५०९)

आत्मश्लाघा न करना चाहिए ।

१८६ श्वःकार्यमद्य कुर्वीत । (५३६)

कल का काम आज कर लेना चाहिए ।

१८७. शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः ॥ (५४३)

शास्त्र को जानते हुए भी जो लोक-व्यवहार को नहीं जानता वह मूर्ख के समान होता है।

३

मनुस्मृति

भोजन-विषयक नियम

१८८ पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥
नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ (२।५४-५७)

जो कुछ भोज्य पदार्थ मनुष्य को प्राप्त हो वह मन उसका आदर की दृष्टि से देखे दोष न निकालते हुए भोजन करे सत्कार रूप और प्रसन्नता का अनुभव करे और बाद में उसकी प्रशंसा करे।

सत्कार किया हुआ अन्न सदा बल और शक्ति को देता है। तिरस्कार की भावना के साथ खाया हुआ अन्न उन दोनों को नष्ट कर देता है।

उच्छिष्ट भोजन किसी को न दे। दिन और सायंकाल के भोजनों के मध्य में भोजन न करे। अधिक भोजन न करे और जूठे मुंह कहीं न जाए।

अतिभोजन अस्वास्थ्यकर होने के साथ-साथ आयु को भी कम करता है। उससे मनुष्य का परलोक भी बिगड़ता है, वह अपुण्य है और दूसरे लोग भी उसकी निन्दा करते हैं। इसलिए अतिभोजन कभी न करना चाहिए।

इन्द्रिय-संयम

१८९ इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ (२।८८)

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ (२।९३)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (२।९४)

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ (२।९६)

विद्वान् को चाहिए कि वह जैसे सारथि घोड़ों को संयम में रखता है ऐसे ही आकर्षण करनेवाले विषयों में जानेवाली इंद्रियों को संयम में रखने का यत्न करे।

इसमें सन्देह नहीं कि विषयों में इन्द्रियों की प्रसक्ति से मनुष्य बुराई की ओर प्रवृत्त होता है और उनके संयम से जीवन के लक्ष्य की सिद्धि को प्राप्त करता है।

कामनाओं के उपभोग से कामना कभी शान्त नहीं होती। प्रत्युत घी से अग्नि की तरह वह और बढ़ती है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विषयों में प्रसक्त इन्द्रियों का अपने विषयों से हटाने मात्र से वैसा वास्तविक संयम नहीं किया जा

सकता जैसा कि सदा ज्ञान में अपने आदर्श और विषयों के स्वरूप के सतत चिन्तन से किया जा सकता है।

३९० वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ (२।९७)

जिसके भाव अपवित्र हैं ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में वेदों का अध्ययन दान यज्ञ नियम और तप कभी सिद्धि को नहीं प्राप्त होते अर्थात् उसके लिए वेदाध्ययनादि सब बिलकुल व्यर्थ हैं।

गुरु-शिष्य का स्नेहसम्बन्ध

३९१ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ (२।११४)
यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ (२।११५)
य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ (२।१४४)
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥ (२।१२१)

विद्या ब्राह्मण के पास आकर कहने लगी—
"मैं तेरी निधि हूँ मेरी रक्षा कर
जो निन्दक है उसे मुझे न दे
तभी मैं विशेषतः शक्तिशालिनी हो सकूँगी।
जिसको तुम पवित्र और
संयमेन्द्रिय ब्रह्मचारी समझते हो
विद्या की निधि रूप में रक्षा करनेवाले
उसी अप्रमादी छात्र के लिए मुझे दो।"

जो ब्रह्म-रूपी ज्ञान से वास्तव में
दोनों कानों का आपूरित कर देता है
उस गुरु को माता और पिता समझना चाहिए,
उससे कभी भी द्रोह न करना चाहिए।

जो अभिवादन-शील है
जो सदा वृद्धों का सेवन करनेवाला है
उसके आयु विद्या यश और बल
ये चारों सदा बढ़ते रहते हैं।

१९२ उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (२।१४५)

दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य का, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता का और सहस्र पिताओं की अपेक्षा माता का गौरव अधिक होता है।

१९३ न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ (२।१५४)

न वर्षों से न सफेद बालों से न वित्त से न भाई बन्धुओं से किसीका महत्त्व होता है। ऋषियों ने इसी धर्म (=मर्यादा) को बनाया है कि 'हममें जो वस्तुतः विद्वान् है वही बड़ा है।

१९४ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ (२।१५६)

सिर के बालों के सफेद हो जाने से कोई वृद्ध नहीं हो जाता। युवा होते हुए भी जो विद्वान् है, देवतागण अथवा विद्वान् लोग उसीको वृद्ध समझते हैं।

१९५ अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ (२।१५९)

किसीको भी यदि भलाई या कल्याण-मार्ग का उपदेश दिया जाय तो अहिंसापूर्वक ही देना चाहिए। जो धर्म के मार्ग का अनुसरण करना चाहता है उसे मधुर और स्निग्ध वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।

१९६ नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
यथास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत ॥ (२।१६१)

स्वयं पीड़ा से ग्रस्त होने पर भी मनुष्य को दूसरे का मर्मान्तक पीड़ा देनेवाला न होना चाहिए और न दूसरे के द्रोह के कारण दुष्कर्म या दुश्चिन्तन करना चाहिए। जिससे दूसरे को व्यथा हो ऐसी लोक-परलोक दोनों को बिगाड़नेवाली वाणी को भी न बोलना चाहिए।

१९७ सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ (२।१६२)

ब्राह्मण को चाहिए कि वह विष के समान सम्मान से दूर रहे और अवमान के लिए अमृत के समान सदा आकांक्षा करे।

१९८ श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ (२।२३८)

मनुष्य को अच्छी विद्या छोटे दर्जे के मनुष्य से भी श्रद्धापूर्वक ले लेनी चाहिए। इसी प्रकार उत्कृष्ट धर्म का ज्ञान अन्त्यज से भी और उत्तम गुणवती स्त्री दुष्कुल से भी ले लेनी चाहिए।

१९९ स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ (२।२४०)

गुणवती स्त्रियाँ, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता का आचार, सुभाषित और विभिन्न प्रकार के शिल्प सब स्थानों से ले लेने चाहिए।

स्त्रियों का सम्मान

४०० यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया ॥ (३।५६)

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ (३।५७)

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ (३।५९)

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ (३।६०)

जिस घर में स्त्रियों का सम्मान होता है वहां देवता रमण करते हैं। जहां उनका सम्मान नहीं होता वहां समस्त यज्ञादि कर्मकाण्ड निष्फल होता है।

जिस कुल में निकट सम्बन्ध की स्त्रियां शोकातुर होकर दुःख पाती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। जिस कुल में वे प्रसन्न रहती हैं वह सदा बढ़ता रहता है।

इसलिए ऐश्वर्य या कल्याण की कामना करनेवाले मनुष्यों को चाहिए कि वे सदैव और विशेषतः सत्कार और उत्सव के अवसरों पर उत्तम भूषण, वस्त्र और भोजन से स्त्रियों का समादर करें।

जिस कुल में भार्या से भर्ता और भर्ता से भार्या सदा सन्तुष्ट रहते हैं वहां निश्चय ही स्थायी कल्याण का वास रहता है।

गृहस्थाश्रम का महत्व

४०१ यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ (३।७७)

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ (३।७८)

जैसे वायु के आश्रय से सब प्राणी जीवित रहते हैं वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से सब आश्रमों का निर्वाह होता है ।

जिससे गृहस्थ ही दान और अन्न से प्रतिदिन ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ और संन्यास इन तीनों आश्रमों के लोगों का धारण करता है इससे गृहस्थ का ही आश्रम अन्य सब आश्रमों से उत्कृष्ट है ।

४०२ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् । (३।११८)

जो अपने लिए ही भोजन पकाता है वह मानो केवल पाप का ही भोजन करता है ।

४०३ नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ (४।१३७)

पूर्व की विफलताओं के कारण अपने को हीन समझकर हतोत्साह नहीं होना चाहिए, प्रत्युत अभ्युदय के लिए जीवनपर्यन्त परिश्रम करते रहना चाहिए और उसको दुर्लभ नहीं मानना चाहिए ।

४०४ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ (४।१३८)

मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य बोले प्रिय बोले अप्रिय सत्य को न बोले और असत्य प्रिय को भी न बोले । यह सनातन धर्म है ।

४०५ आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ (४।१५६)

सदाचार के पालन से मनुष्य पूर्ण आयु को अभिलषित सन्तानों को और अक्षय धन को पाता है । सदाचार से बुराइयों का नाश हो जाता है ।

४०६ यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ (४।१६१)

जिस काम को करते हुए अन्तरात्मा को सन्तोष हो उसको प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए। जो ऐसा काम नहीं है उसे छोड़ दे।

४०७ अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ (४।१७४)

अधर्म से प्रारम्भ में मनुष्य बढ़ता है। तब अनेक स्पृहणीय वस्तुओं को प्राप्त करता है। तदनन्तर अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। पर अन्त में समूल नष्ट हो जाता है।

४०८ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ (४।१७६)

मनुष्य धर्म से रहित अर्थ और काम को छोड़ दे। अन्त में दुःख देनेवाले तथा लोक से निन्दित धर्म को भी छोड़ दे।

४०९ सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ (४।२३३)

जल अन्न गौ भूमि वस्त्र तिल सुवर्ण तथा घी आदि पदार्थों के दानों से विद्या का दान बड़ा उत्कृष्ट है।

४१० न दत्त्वा परिकीर्तयेत् । (४।२३६)

दान देकर उसका कीर्तन न करे।

४११ सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ (५।१०६)

सब प्रकार का पवित्रताओं में धन की पवित्रता श्रेष्ठ कही गई है। मन के सम्बन्ध में जो पवित्र है वही पवित्र है। मिट्टी-पानी द्वारा जो पवित्र है वह वास्तव में पवित्र नहीं है।

४१२ अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ (५।१०९)

शरीर जल से शुद्ध होते हैं मन सत्य से शुद्ध होता है। मनुष्य की आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होती है। बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

४१३ सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्य वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ (८।१३)

या तो सभा में न जाय जाने पर समुचित बात कहे। प्रसङ्ग उपस्थित होने पर मौन रहने से अथवा अन्यथा बोलने से मनुष्य पापी हो जाता है।

४१४ धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥ (८।१५)

मारा हुआ (=पालन न किया हुआ) धर्म मार डालता है
रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है।
इसलिए धर्म को न मारना चाहिए,
जिससे मारा हुआ धर्म हमको न मार डाले।

४१५ यस्य विद्वान्हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ (८।९६)

किसी बात को कहते हुए जिसका विद्वान् अर्थात् सत्यासत्य का विवेकी अन्तरात्मा शङ्कित नहीं होता देवता अथवा विद्वान् लोग संसार में किसी अन्य पुरुष को उससे अच्छा नहीं समझते अर्थात् उसको सबसे अच्छा मनुष्य समझते हैं।

४१६ चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमा सदा। (८।३५९)
चारों वर्णों की स्त्रियों की सदा रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है।

४१७ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते॥ (९।३००)

मनुष्य को चाहिए कि श्रान्त हो होकर बार-बार कार्यों को आरम्भ करे। जो मनुष्य दृढ़ता से कार्यों में प्रवृत्त होता है उसीको श्री (शोभा या लक्ष्मी) सेवन करती है।

४१८ नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ (९।३२२)

ब्रह्म-शक्ति के बिना क्षत्र-शक्ति नहीं बढ़ती, और क्षत्र-शक्ति के बिना ब्रह्म-शक्ति नहीं बढ़ती। परस्पर मिली हुई ब्रह्म-शक्ति और क्षत्र-शक्ति ही इस लोक और परलोक में वृद्धि को प्राप्त होती है।

४१९ प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः। (१०।१०९)

ब्राह्मण के लिए असत्प्रतिग्रह (=बुरा दान लेना) उसके परलोक का बिगाड़नेवाला होता है।

४२० ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि॥ (११।२२७)

अपने पाप को प्रकट कर देने से पश्चात्ताप से तप से अध्ययन से और आपत्ति के अवसर पर दान देने से पाप करनेवाला पाप से छूट जाता है।

४२१ यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ (११।२३८)

जो दुस्तर है जो दुराप (कठिनता से प्राप्य) है जो दुर्गम है जो दुष्कर है वह सबकुछ तप द्वारा सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि तप से मनुष्य प्रत्येक कठिनता को पार कर सकता है।

४२२ अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ (१२।१०३)

अज्ञों से ग्रन्थ पढ़नेवाले श्रेष्ठ होते हैं, ग्रन्थ पढ़नेवालों से ग्रन्थों का धारण करनेवाले (स्मरण रखनेवाले) श्रेष्ठ होते हैं, ग्रन्थ धारण करने वालों से ज्ञानी (उनके अभिप्राय का समझनेवाले) श्रेष्ठ होते हैं और ज्ञानियों से तदनुकूल आचरण करनेवाले श्रेष्ठ होते हैं ।

आठवाँ अध्याय

इस अध्याय में भी तीन भागों में क्रमशः चरक-संहिता योगवासिष्ठ और श्रीमद्भागवत में कुछ चुने हुए थोड़े-से सुभाषित दिये जाते हैं। चरकसंहिता आयुर्वेद का प्रसिद्ध अति प्राचीन ग्रन्थ है। पर इसमें स्थान-स्थान पर सूक्ति-रत्न पाये जाते हैं। योगवासिष्ठ पौराणिक ढंग पर लिखा हुआ अध्यात्म-विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। ग्रन्थ सुन्दर सुभाषितों से भरा पड़ा है। श्रीमद्भागवत भागवत-धर्म-विषयक एक प्रमुख पुराण है। इसके विचार और भाषा दोनों ही अत्यन्त हृदयाकर्षक हैं।

१
चरक-संहिता

४२३ धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष का उत्तम साधन आरोग्य (=स्वास्थ्य) है।

४२४ आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुखदुःखयोः।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को ही सुख और दुःख का कर्ता समझे।

४२५ ज्ञानवतापि च नात्ययमात्मनो ज्ञानेन विकत्थितव्यम्।
आप्ताश्चापि हि विकत्थनमात्रादप्यर्थमद्विजन्ति अनेके।

ज्ञानवान् मनुष्य को भी अपने ज्ञान की अत्यधिक श्लाघा नहीं करनी चाहिए। आत्मश्लाघा करनेवाले प्रामाणिक व्यक्ति से भी बहुत लोग अत्यधिक घबड़ाते हैं।

४२६ कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः। शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।

बुद्धिमानों के लिए सब कोई आचार्य अर्थात् शिक्षक और हितैषी होता है और मूर्खों के लिए शत्रु।

४२७ हेतावीर्ष्यु फले नेर्ष्युः।

मनुष्य को किसी भी कार्य के हेतु के प्रति ईर्ष्यालु होना चाहिए, फल के प्रति नहीं।

४२८ न नियमं भिन्द्यात्।

नियम-भङ्ग न करना चाहिए।

४२९ न सर्वविश्रम्भी न सर्वाभिशङ्की।

न तो सबका विश्वास करे न सबके प्रति शङ्का करे।

४३० न कार्यकालमतिपातयेत्।

किसी भी कार्य के समय का उल्लंघन न करे।

४३१ न सिद्धावौत्सुक्यं गच्छेत्। नासिद्धौ दैन्यम्।

न तो सफलता में उत्सुकता को प्राप्त होवे न असफलता में दीनता का अनुभव करे।

४३२ नापरीक्षितमभिनिविशेत्।

जिसकी परीक्षा नहीं की है ऐसी बात के विषय में आसक्ति न करे।

२
योगवासिष्ठ

४३३ उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥ (१।१।७)

आठवाँ अध्याय

इस अध्याय में भी तीन भागों में क्रमशः चरक-संहिता योगवासिष्ठ और श्रीमद्भागवत से कुछ चुने हुए थोड़े-से सुभाषित दिये जाते हैं। चरकसंहिता आयुर्वेद का प्रसिद्ध अति प्राचीन ग्रन्थ है। पर इसमें स्थान-स्थान पर सूक्ति-रत्न पाये जाते हैं। योगवासिष्ठ पौराणिक ढंग पर लिखा हुआ अध्यात्म-विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। ग्रन्थ सुन्दर सुभाषितों से भरा पड़ा है। श्रीमद्भागवत भागवत-धर्म-विषयक एक प्रमुख पुराण है। इसके विचार और भाषा दोनों ही अत्यन्त हृदयाकर्षक हैं।

१

चरक-संहिता

४२३ धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष का उत्तम साधन आरोग्य (=स्वास्थ्य) है।

४२४ आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को ही सुख और दुःख का कर्ता समझे।

४२५ ज्ञानवतापि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञानेन विकत्थितव्यम्।
आप्तादपि हि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्ति अनेके।

ज्ञानवान् मनुष्य को भी अपने ज्ञान की अत्यधिक श्लाघा नहीं करनी चाहिए। आत्मश्लाघा करनेवाले प्रामाणिक व्यक्ति से भी बहुत लोग अत्यधिक घबड़ाते हैं।

४२६. कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः। शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।

बुद्धिमानों के लिए सब कोई आचार्य अर्थात् शिक्षक और हितैषी होता है और मूर्खों के लिए शत्रु ।

४२७ हेतावीर्ष्युः फले नेर्ष्युः ।

मनुष्य को किसी भी कार्य के हेतु के प्रति ईर्ष्यालु होना चाहिए, फल के प्रति नहीं ।

४२८ न नियमं भिन्द्यात् ।

नियम-भङ्ग न करना चाहिए ।

४२९ न सर्वविश्रम्भी न सर्वाभिशङ्की ।

न तो सबका विश्वास करे न सबके प्रति शङ्का करे ।

४३० न कार्यकालमतिपातयेत् ।

किसी भी कार्य के समय का उल्लंघन न करे ।

४३१ न सिद्धावौत्सुक्यं गच्छेत् । नासिद्धौ दैन्यम् ।

न तो सफलता में उत्सुकता को प्राप्त होवे न असफलता में दीनता का अनुभव करे ।

४३२ नापरीक्षितमभिनिवेशेत् ।

जिसकी परीक्षा नहीं की है ऐसी बात के विषय में आसक्ति न करे ।

२
योगवासिष्ठ

४३३ उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥ (१।१।७)

जैसे पक्षी आकाश में दोनों पंखों से ही उड़ते हैं, ऐसे ही ज्ञान और कर्म दोनों के योग से ही परम पद (=जीवन के परम लक्ष्य) की प्राप्ति होती है।

४३४ क्षणमानन्दितामेति क्षणमेति विषादिताम् ।
क्षणं सौम्यत्वमायाति सर्वस्मिन्नटवन्मनः ॥ (११२८।१८)

प्रत्येक मनुष्य के मन की स्थिति नट के समान है। वह क्षणभर में आनन्दी बन जाता है, क्षणभर में विषादी और क्षणभर में सौम्य बन जाता है।

४३५ द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ समासमौ ।
प्राक्तनश्चैहिकश्चैव शाम्यत्यत्राल्पवीर्यवान् ॥ (२।५।५)

पूर्वजन्म का पुरुषार्थ (अर्थात् भाग्य) और इस जन्म का पुरुषार्थ कभी सम-शक्ति होकर और कभी असम शक्ति होकर, दो मेढ़ों की तरह, परस्पर युद्ध करते हैं। उनमें से जो अल्प शक्ति वाला होता है वह हार खा जाता है।

४३६ परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्णयन् ।
शुभेनाशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत् ॥ (२।५।९)

मनुष्य को चाहिए कि पूर्वजन्म के अशुभ पौरुष (अर्थात दुर्भाग्य) के फलोन्मुख होने पर, दाँतों से दाँतों को पीसते हुए, परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर शुभ कर्मों द्वारा उसको जीत ले।

४३७ मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः ।
प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः ॥ (२।८।१६)

दैव (भाग्य) की कल्पना मूढ़ लोग ही करते हैं और दैव पर आश्रित होकर वे अपना नाश कर लेते हैं। बुद्धिमान् लोग तो पुरुषार्थ द्वारा ही उत्कृष्ट पद को प्राप्त करते हैं।

४३८. अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥ (२।१८।२)

सामान्य पुरुष द्वारा कहा हुआ शास्त्र भी यदि वह युक्तियुक्त बात को बतलाता है तो ग्रहण करने के योग्य है। इसके विरुद्ध जो शास्त्र है वह ऋषि प्रोक्त हो तो भी त्याग करने योग्य है। मनुष्य को न्याय्य बात को ही मानना चाहिए।

४३९ युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥ (२।१८।३)

युक्तियुक्त वचन को बालक से भी ले लेना चाहिए। ब्रह्मा द्वारा भी कहा हुआ युक्तिहीन वचन तृण की तरह त्याज्य है।

४४० तपसैव महोग्रेण यद्दुरापं तदाप्यते । (३।९८।१४)

जो भी दुष्प्राप्य वस्तु है वह कठिन तप से ही प्राप्त की जा सकती है।

४४१ सर्वः स्वसङ्कल्पवशाल्लघुर्भवति वा गुरुः । (३।७०।३०)

सबकोई अपने संकल्पों के कारण ही छोटा अथवा बड़ा बन जाता है।

४४२ यदवध्यवधात्पापं वध्यत्यागात्तदेव हि । (३।९०।३)

अवध्य के वध करने से जो पाप होता है वही पाप वध्य के छोड़ देने से होता है।

४४३ न किञ्चिद्दीर्घसूत्राणां सिध्यत्यात्मक्षयादृते । (३।७८।८)

जो दीर्घसूत्री (=देर से काम करनेवाले) होते हैं उनका अपने नाश को छोड़कर कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

४४४ अनुद्वेगः श्रियो मूलम् । (३।११।२२)

उद्विग्न न होना समृद्धि का मूल है।

४४५　न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन यन्नाप्नोति गुणान्वितः॥　(४।६२।१९)

पृथिवी लोक में द्युलोक में अथवा देवलोक में कहीं भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे गुणवान् मनुष्य अपने प्रयत्न से प्राप्त नहीं कर लेता है।

४४६　अपूर्वाह्लाददायिन्य उच्चैस्तरपदाश्रयाः।
अतिमोहापहारिण्यः सूक्तयो हि महीयसाम्॥　(५।४।५)

महान् व्यक्तियों की सूक्तियां अपूर्व आनन्द को देनेवाली उत्कृष्टतर पद पर पहुंचानेवाली और अनर्थ-मूल मोह को दूर करनेवाली होती हैं।

४४७.　न कालमतिवर्तन्ते महान्तः स्वेषु कर्मसु।　(५।१ १९)

महान् पुरुष अपने कामों में कालातिक्रम नहीं होने देते हैं।

४४८.　भविष्यं नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ।
वर्तमाननिमेषं तु हसन्नेवानुवर्तते॥　(५।१२।१४)

वे (=जनकराजा) भविष्य का अनुसन्धान नहीं करते न अतीत की चिन्ता करते हैं। वे हँसते हुए वर्तमान काल का ही अनुसरण करते हैं।

४४९　चिन्तनेनैधते चिन्ता त्विन्धनेनेव पावकः।
नश्यत्यचिन्तनेनैव विनेन्धनमिवानलः॥　(५।२१।६)

ईंधन से जैसे अग्नि बढ़ती है ऐसे ही सोचने से चिन्ता बढ़ती है। न सोचने से चिन्ता वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे ईंधन के बिना अग्नि नष्ट हो जाती है।

४५०　न स्वधैर्यादृते कश्चिदभ्युद्धरति सङ्कटात्।　(५।२९।१०)
अपने धैर्य के बिना कोई और संकट से मनुष्य का उद्धार नहीं करता।

४५१ भ्रान्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमयं जगत् ।
भवत्यखिलजन्तूनां यदन्तस्तद्बहिः स्थितम् ॥ (५।५६।३४)

जिनका अन्तःकरण तृष्णा से तप्त है उनको यह जगत् दावानल (जंगल की आग) स्वरूप प्रतीत होता है। सब प्राणियों के जो अन्दर (मन में) होता है वही बाहर जगत् में दिखाई देता है।

४५२ भर्धं सज्जनसम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।
चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागं स्वयत्नतः ॥(६उ०।१२।३७)

सज्जनों के संपर्क से आधी अविद्या नष्ट हो जाती है उसका चतुर्थांश शास्त्र के विचार से नष्ट हो जाता है और शेष चतुर्थांश अपने यत्न से नष्ट होता है।

४५३ व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् ।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥(६उ०।२१।३)

जो एक शिल्पकार के समान केवल आजीविका के लिए शास्त्र को पढ़ता है और उसका व्याख्यान करता है परन्तु तदनुकूल आचरण करने का यत्न नहीं करता वह केवल ज्ञानबन्धु नाममात्र का ज्ञानी कहलाता है।

४५४ अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥
(६उ०।६७।२६)

अभ्यास का माहात्म्य देखो। अभ्यास से—मूर्ख विद्वान् बन जाता है धीरे-धीरे पर्वत भी चूर्ण हो जाता है और बाण भी अपने महान् लक्ष्य को प्राप्त हो जाता है।

४५५ अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकट्याभ्यासयोगतः ।
यात्यनभ्यासतो दूरात्स्नेहो बन्धुषु तानवम् ॥(६उ०।६७।२९)

बार-बार मिलन के सम्बन्ध से अबन्धु बन्धु बन जाता है। दूरी के कारण परस्पर मिलन का अभ्यास छूट जाने से बन्धुओं में भी स्नेह की कमी हो जाती है।

४५६ यो यावृकक्लेशमायातुं समर्थस्तादृगेव स ।
अवश्यं फलमाप्नोति प्रबुद्धोऽप्रबुद्ध एव वा ॥ (६।उ०।१०२।११)

प्रबुद्ध हो या अप्रबुद्ध हो जो जैसा क्लेश उठाने को समर्थ है वह वैसा ही फल अवश्य पा लेता है।

४५७ ना यथा यतते नित्यं यद्भावयति यन्मय ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति नान्यथा ॥ (६उ०।१५७।११)

मनुष्य नित्य जैसा यत्न करता है तन्मय होकर जैसी भावना करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है अन्यथा नहीं।

४५८ अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन्किं करिष्यसि ।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥ (६उ ।१६२।२०)

जो अपने कल्याण की बात है उसे आज ही कर। वृद्ध होकर क्या करेगा? क्योंकि वृद्धावस्था में अपने शरीर भी भारभूत हो जाते हैं।

४५९ तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति । (६उ०।१६१।५६)

यह कुआ हमारे पिता का है ऐसा कहते हुए निकम्मे पुरुष खारी जल को पीते हैं।

४६० आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते ।
नीयते तद् वृथा येन प्रमादः सुमहानहो ! (६उ०।१७५।७८)

आयु का एक क्षण भी ससार के सब रत्नों से नहीं पाया जा सकता। उस आयु को यदि कोई व्यर्थ में खोता है तो अहो! बड़ा भारी प्रमाद है।

३

श्रीमद्भागवत

४६१ स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः। (१।१९।८)

सन्त स्वयं तीर्थों का पवित्र करते ह।

४६२ नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः। (२।१८।२३)

पक्षी अपनी शक्ति के अनुसार ही (अनन्त) आकाश में उड़ते हैं। अर्थात् मनुष्य की उन्नति का क्षेत्र अनन्त है उसमें वह जितनी चाहे उतनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से कर सकता है।

४६३ यस्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥ (३।७।१७)

ससार म जो अत्यन्त मढ़ है और जो पूर्ण ज्ञानी है वे दोनों सुख से रहते हैं। परन्तु जो मनुष्य दोनों के बीच की स्थिति में है वह क्लेश को प्राप्त होता है।

४६४ ब्राह्मणः समदृक्शान्तो दीनानां समुपेक्षकः।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा॥ (४।१४।४१)

जो ब्राह्मण सर्वत्र समदृष्टि और शान्त होता हुआ भी दीन जनों की उपेक्षा करता है उसका ब्राह्मणत्व भी टूटे हुए पात्र से निकलते हुए पानी के समान धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है।

४६५ प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः। (४।१५।२५)

समर्थ पुरुष विख्यात होते हुए भी अपनी स्तुति को पसन्द नहीं करते ह।

४६६. एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः ।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥ (६।१०।९)

प्राणिमात्र के शोक और हर्ष मे जो शोक और हर्ष की अनुभूति है इतना ही अक्षय धर्म है। पवित्र कीर्तिवाले महापुरुष इसी धर्म का सेवन करते हैं।

४६७. इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः । (७।१२।७)

अत्यन्त तंग करनेवाली इन्द्रियाँ यति (=संन्यासी अथवा संयतात्मा) के भी मन का हर लेती हैं विषयों की ओर ले जाती हैं।

४६८. यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ (७।१४।८)

अपने पेट के भरने के लिए (=अपनी प्राण रक्षा के लिए) जितने पदार्थ की आवश्यकता है प्राणियों का स्वत्व उतने में ही है। उसकी अपेक्षा जो अधिक में आसक्ति करता है वह चोर है और दण्डनीय है।

४६९ न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा। (८।६।२४)

सब काम जैसे शान्ति से सिद्ध होते हैं वैसे अशान्ति से नहीं।

४७० तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥ (८।७।४४)

साधुजन प्रायश संसार के ताप से संतप्त होते हैं। यही विश्वात्मा भगवान् का उत्कृष्ट आराधन है।

४७१ श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः। (८।२०।७)

साधुजन अपने दुस्त्यज (=जिनको त्यागना कठिन है) प्राणों से भी प्राणियों का कल्याण करते हैं।

४७२ यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् ।
समदृष्टेस्तदा पुंस: सर्वा: सुखमया दिश: ।। (९।१९।१५)

जब मनुष्य उस स्थिति में पहुंच जाता है जबकि वह प्राणिमात्र के प्रति अमङ्गल (=अकल्याण) की भावना नहीं करता तब वह समदृष्टि हो जाता है। उस स्थिति में उसके लिए सब दिशाए सुखमय हो जाती हैं।

४७३ स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यज: । (१०।४७।५)

मुनि के लिए भी बन्धुओं के प्रति स्नेह के बन्धन को छोड़ना बड़ा कठिन है।

४७४ न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया: ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधव: ।। (१०।४८।३१)

वास्तव में नदी आदि के जल से युक्त स्थानों को तीर्थ न समझना चाहिए, न मिट्टी-पत्थर से बनी हुई मूर्तियों को देवता समझना चाहिए। बहुत काल के पश्चात् ही वे पवित्र करते हैं। परन्तु साधुजन दर्शनमात्र से पवित्र कर देते हैं। (अत: उनको ही सच्चा तीर्थ और देवता समझना चाहिए।)

४७५ एक: प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ।। (१०।४९।२१)

प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अकेला ही वह अपने पुण्य और पाप के फलों को भोगता है।

४७६. न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् । (१०।५०।२०)

शूर-वीर पुरुष आत्म-श्लाघा नहीं करते। वे केवल अपने पौरुष (=पराक्रम) को ही दिखाते हैं।

४७७. सुखदु:खदो न चान्योऽस्ति यत: स्वकृतभुक्पुमान्।(१०।५४।३८)

सुख और दुःख का देनवाला कोई दूसरा नहीं होता, क्योंकि मनुष्य अपने किये का ही फल पाता है।

४७८. मनुष्यस्य महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ (११।८।१०)

जैसे भौंरा छोटे-बड़े सब पुष्पों से रस को लेता है इसी प्रकार कुशल मनुष्य को चाहिए कि वह छोटे-बड़े सब शास्त्रों से सार को ग्रहण करे।

४७९ तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥ (११।८।२१)

अन्य इन्द्रियों को जीतनेवाले मनुष्य ने जबतक रसनेन्द्रिय को नहीं जीत लिया है तबतक उसे जितेन्द्रिय नहीं कह सकते। रस अर्थात् स्वाद के जीतने पर सबको जीत लिया ऐसा कह सकते हैं।

४८० ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥ (११।१७।४२)

ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र कामनाओं के लिए नहीं है। वह तो इस लोक में घोर तप के लिए और परलोक में शाश्वत कल्याण के लिए ही है।

४८१ जिह्वां क्वचित्संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत ॥ (११।२३।५१)

अपने दांतों से ही कभी अपनी जिह्वा के कट जाने पर जो पीड़ा होती है उसके लिए मनुष्य किस पर कोप करेगा? अर्थात् जिस स्थिति के लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं उसके लिए दूसरों को दोष देना अनुचित है।

सुभाषित-सप्तशती

तृतीय खण्ड

अध्याय ९—१३

किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि ?
सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ? (नीतिशतक २१)

यदि अनिन्दनीय विद्या है, तो धनों से क्या ?
यदि सुन्दर कविता है तो राज्य से क्या ?

नवां अध्याय

इस अध्याय में केवल महाकवि कालिदास के काव्यों और नाटकों से कुछ चुने हुए सुभाषित-रत्न दिए गए हैं। कालिदास को विद्याधिदेवता सरस्वती का 'कविकुलगुरु' कालिदासो विलास' कहा गया है। उनकी कीर्ति सुदूर विदेशों तक फैली हुई है। वे भारतीय संस्कृति के प्रमुख प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। इसलिए उनके सुभाषितों का स्पष्टतः अत्यन्त मूल्य है। अधिकतर विद्वान् उनका समय ४०० ई० के लगभग मानते हैं।

१

रघुवंश-महाकाव्य

[रघुवंश-महाकाव्य महाकवि कालिदास का मुख्य महाकाव्य है।]

४८२ हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥(१।१०)

सोने की विशुद्धि अथवा मिलावट का पता अग्नि में ही लगता है।

४८३ क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ (३।२९)

उचित पात्र में प्रयुक्त क्रिया ही सफल होती है।

४८४ पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ (३।६२)

गुण सर्वत्र अपना प्रभाव जमा देते हैं।

४८५ भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥ (६।३०)

लोगों की रुचियां भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं।

४८६ मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥(८।८७)

मरण शरीरधारियों का स्वभाव है। बुद्धिमान् लोग जीवन को विकृति कहते हैं। इसलिए यदि कोई क्षण-भर के लिए भी जीवित रहता है तो उसे लाभवान् ही समझना चाहिए।

४८७ स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ (९८।८)

जबकि शास्त्रों के अनुसार अपने शरीर और आत्मा के भी संयोग और वियोग होते हैं उस दशा में अपने से बाह्य विषय स्त्री-मित्रादि का वियोग विद्वान् को कैसे दुःखी कर सकता है?

२
कुमारसंभव-महाकाव्य

[कुमारसंभव-महाकाव्य महाकवि कालिदास का दूसरा महाकाव्य है। इसमें तारकासुर के वध के लिए कुमार कार्तिकेय के जन्म की कथा है।]

४८८ विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ (१।५९)

मन में विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु के पास होने पर भी जिनके मन में विकार नहीं होता उन्हींको धीर कहना चाहिए।

४८९ प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ (३।२८)

किसी एक ही द्रव्य या व्यक्ति में समस्त गुण पाये जायें इस बात के अनुकूल विश्व के स्रष्टा भगवान् की प्रवृत्ति नहीं है।

४९० क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ (५।५)

अभीष्ट पदार्थ के लिए स्थिर निश्चयवाले मन को और नीचे की ओर बहनेवाली नदी आदि को कौन फेर सकता है?

४९१ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ (५।३३)

शरीर धर्म का मुख्य साधन है।

४९२ न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ (५।४५)

रत्न स्वयं किसीकी तलाश नहीं करता। उसीकी तलाश की जाती है।

४९३ अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥ (५।७५)

मन्द-मति लोग महात्माओं के लोकोत्तर और अचिन्तनीय हेतुवाले चरित से द्वेष किया करते हैं।

४९४ प्रायः प्रत्ययमाधत्त स्वगुणेषूत्तमादरः ॥ (६।२०)

बड़े लोगों का सम्मान प्रायः अपने गुणों में विश्वास उत्पन्न कर देता है।

३

मेघदूत

[मेघदूत महाकवि कालिदास का सुप्रसिद्ध गीतिकाव्य है। इसमें अलका नगरी से निर्वासित यक्ष की ओर से अपनी विरहिणी पत्नी के पास मेघ द्वारा सन्देश भेजने का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है।]

४९५ याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ (१।६)

अधिक गुणवाले से याचना करने पर उसका असफल हो जाना भी अच्छा है। नीच मनुष्य से उसका सफल हो जाना भी अच्छा नहीं।

४९६ रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ (१।२०)

जो कोई रिक्त (अर्थात् सारहीन) होता है वह लघु (हल्का) होता है। पूर्णता गौरव के लिए होती है।

४९७ आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥ (१।५३)

उत्तम पुरुषों की संपत्तियां आपत्ति-ग्रस्त लोगों के कष्टों को शान्त करने के लिए ही होती हैं ।

४९८. कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ (५।४६)

ऐसा कौन है जिसको नियत रूप से केवल सुख अथवा दुःख ही प्राप्त होता हो ? मनुष्य की दशा पहिये की नेमि (=घेरा) की तरह क्रम से नीचे और ऊपर जाती है ।

४

अभिज्ञानशाकुन्तल-नाटक

[महाकवि कालिदास का यह विश्व-प्रसिद्ध नाटक है ।]

४९९ किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् (१।१७)

जिनकी आकृति मधुर होती है उनके लिए प्रत्येक-साधन मण्डन अर्थात् अलङ्कार का काम देता है ।

५०० सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ (१।१९)

संदेहास्पद वस्तुओं में सत्पुरुषों के लिए उनके अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही प्रमाण होती हैं ।

५०१ अर्थो हि कन्या परकीय एव ॥ (४।२२)

कन्या तो दूसरे की ही वस्तु होती है ।

५०२ औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा ॥ (५।६)

प्रतिष्ठा पा लेने पर उसकी प्राप्ति के लिए जो उत्सुकता होती है केवल वही शान्त हो जाती है ।

५०३ अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्ण
शमयति परिताप छायया सश्रितानाम् ॥ (५।७)

वृक्ष अपने सिर से तो तीव्र उष्णता का अनुभव करता है, पर अपने आश्रितों के ताप को छाया से दूर करता है। अर्थात् सत्पुरुष स्वय कष्ट उठाकर दूसरों के दु खों को दूर करते हैं।

५०४ भवन्ति नम्रास्तरव फलोद्गम
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घना ।
अनुद्धता सत्पुरुषा समृद्धिभि
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ (५।१२)

फलों के आने पर वृक्ष नम्र हो जाते हैं। नये जलों से बादल नीचे लटक जाते हैं। सत्पुरुष समृद्धियों को पाकर अनुद्धत रहते हैं। परोपकार करने वालों का यही स्वभाव होता है।

५०५ स्रजमपि शिरस्यन्ध क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥ (७।२४)

अन्धे के सिर पर यदि माला भी डाली जाय तो वह उसे सर्प की शंका से गिरा देता है।

५
विक्रमोर्वशीय नाटिका

[महाकवि कालिदास की इस नाटिका में उर्वशी अप्सरा और महाराज पुरूरवस् के प्रेम की कथा है।]

५०६ यदेवोपनत दु खात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषत ॥ (३।२१)

जो सुख-दुख के पश्चात् प्राप्त होता है वह साधारण सुख से अधिक सुखमय होता है। जो मनुष्य धूप से सतप्त है उसके लिए वृक्ष की छाया विशेष रूप से सुख देनेवाली होती है।

५०७ परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
सगतं श्रीसरस्वत्योर्भूयादुद्भतये सताम् ॥ (५१२४)

साधारणत परस्पर विराम मे रहनवाली लक्ष्मी और सरस्वती का एक स्थान में कठिनता से पाया जानेवाला मम सत्पुरुषों को उन्नति करन वाला हो।

५०८. सवस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्व कामानवाप्नोतु सव सर्वत्र नन्दतु ॥ (५१२५)

सब काई कठिनताओ का पार करे
सब कोई कल्याणों को देखे ।
सब काई अपनी सत्कामनाओ को प्राप्त करे
सब काई सवत्र आनन्द का उपभोग कर।

५०९ छिन्नबन्धे मत्स्य पलायिते निर्विण्णो ।
धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यति ॥

जाल के बन्धनों के टूट जान पर जब मछली निकल भागती है तब खिन्न हाकर धीवर कहता है–चलो मुझ पुण्य होगा' ।

५१० सवत्र स्वात्मानुमानन वर्तितु युक्तम् ।

सब स्थितियों में मनुष्य को अपन अनुमान मे अपन को उस स्थिति मे रख कर, व्यवहार करना चाहिए।

६
मालविकाग्निमित्र-नाटक

[महाकवि कालिदास के इस नाटक में मालविका और महाराज अग्निमित्र का प्रमाख्यान है ।]

५११ पुराणमित्यव न साधु सर्व,
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।

सन्त परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥ (१।२)

कोई वस्तु पुरानी होने से ही अच्छी नही हो जाती
न काई काव्य नया होन से ही निन्दनीय हो जाता है ।
सत्पुरुष नय-पुरान की परीक्षा करके दोनों मे से जा गणयुक्त होता है, उसको ग्रहण करते हं ,
मूढ की बुद्धि ता दूसरे के ज्ञान से ही सचालित होती है ।

५१२ अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानव ।
दृश्य तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥ (१।९)

जिसके सहायक है एसा मनुष्य ही विघ्न-बाधाओं स युक्त किसी लक्ष्य को पा सकता है । आखोवाला मनुष्य भी दीपक के बिना अन्धकार में किसी दृश्य पदार्थ का नही देख पाता ।

५१३ मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चित ।
पङ्कच्छिद फलस्यव निकषणाविल पय ॥ (२।७)

विद्वान् के ससर्ग से मन्द-बुद्धि मनुष्य भी बुद्धिमान् हो जाता है। जसे गंदा जल मल को काटनेवाले निर्मली के फल के सपर्क से शुद्ध हो जाता है ।

दसवा अध्याय

इस अध्याय में तीन भागों में क्रमश महाकवि भारवि माघ और श्रीहर्ष के सुप्रसिद्ध काव्यों से चुन हुए सुभाषित रत्न दिये गए ह। संस्कृत महाकाव्यों के लेखक महाकवियों में महाकवि कालिदास के बाद इनका ही स्थान माना जाता है। तीनों की ही अपनी-अपनी विशेषताएं हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जायगा।

किरातार्जुनीय–महाकाव्य

[किरातार्जुनीय-महाकाव्य के रचयिता महाकवि भारवि (समय लगभग ५५० ई०) हैं। इनके विषय में प्रसिद्ध है 'भारवेरर्थगौरवम्'। अर्थात् थोड़े-से शब्दों में विपुल अर्थ का प्रतिपादन ही इनकी प्रमुख विशेषता है। यह राजनीति के बड़े भारी ज्ञाता थ।]

५१४ …नहि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिण ॥ (१।२)

हितैषी लोग एसी प्रिय बात नहीं कहना चाहते हैं जो मिथ्या हो।

५१५ ननु वक्तृविशेषनि स्पृहा
गुणगृह्या वचन विपश्चित ॥ (२।५)

विद्वान् लोग किसी वचन के विषय में यह नहीं देखते कि उसका कहने वाला कौन है। वे तो केवल गुण के पक्षपाती होते ह।

५१६ निवसन्ति पराक्रमाश्रया
न विषादेन सम समृद्धय ॥ (२।१५)

जहां पराक्रम है वहां समृद्धियां रहती हैं। विषाद या अनुत्साह के साथ वे नहीं रहती।

५१७. सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ (२।३०)

किसी काम को बिना विचारे न करे,
अविवेक आपत्तियों का महान् कारण है ।
जो विचार-पूर्वक कार्य करता है उसको
गुणों में लुब्ध सम्पत्तियां स्वयं वरण करती हैं ।

५१८. स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः ।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥ (२।३४)

स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं से चले हुए मार्ग में मन देनेवालों की दुर्भाग्य से उपस्थित अवनति भी समुन्नति के समान होती है । उसमें उनका कोई अपराध नहीं होता ।

५१९ यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः॥ (३।४०)

यश की प्राप्ति के लिए, सुख की इच्छा से अथवा साधारण मनुष्यों की गणना को अतिक्रमण करने के लिए, आतुर न होकर, प्रयत्न करने वालों के पास मानो औत्सुक्य के साथ सफलता स्वयं उपस्थित हो जाती है ।

५२० किमिवावसादकरमात्मवताम् ॥ (६।१९)

मनस्वियों के लिए कोई भी स्थिति अशान्ति जनक नहीं होती वे किसी भी अवस्था में नहीं घबड़ाते ।

५२१ प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ॥ (९।७०)

प्रेम अस्थान में भी अनिष्ट की आशंका करता है ।

५२२ उपनतमवधीरयन्त्यभव्याः ॥ (१०।५१)

अभागे मनुष्य प्राप्त वस्तु का अपमान करते हैं ।

५२३ शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ (११।१२)

यौवन की शोभाएं शरद् ऋतु के मेघ की छाया के समान चञ्चल होती हैं। इन्द्रियों के विषय केवल तत्काल रमणीय होते हैं और अन्त में दुःख देनेवाले होते हैं।

५२४ तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्यं तदासवः ।
तदेकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ (११।२८)

जब मनुष्य अपने प्रिय से वियुक्त होता है तब रमणीय पदार्थ अरमणीय हो जाते हैं, प्यारे प्राण कांटे के समान असह्य हो जाते हैं और उस समय बन्धुओं के बीच में भी मनुष्य अपने को एकाकी अनुभव करता है।

५२५ जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥ (११।३२)

अपने ही शरीर में रहने वाले चक्षु आदि दुर्जय शत्रुओं को पहले जीतना चाहिए। उनके जीत लेने पर, ऐसा समझो कि मानो सारा संसार तुमने जीत लिया।

५२६. तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ (११।६१)

जबतक मनुष्य के मान की हानि नहीं होती तभी तक लक्ष्मी उसमें निवास करती है, तभी तक उसका यश स्थिर रहता है और तभी तक उसकी पुरुषों में गणना होती है।

५२७ प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥ (१४।२१)

दुष्ट लोग स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं।

२
शिशुपालवध-महाकाव्य

[इस महाकाव्य के रचयिता महाकवि माघ (समय लगभग ७०० ई०) हैं। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' अर्थात् कालिदास की उपमा भारवि का अर्थ-गौरव और दण्डी का पदलालित्य—ये तीनों गुण माघ में पाये जाते हैं।]

५२८. ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः संदिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ (२।१२)

किसी काय की वस्तुस्थिति को जानने वाला अकेला मनुष्य भी उसके सम्बन्ध में अन्तिम निश्चय करने में संदिग्ध ही रहता है।

५२९ महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ (२।१३)

बड़े लोग स्वभाव से ही मितभाषी होते हैं।

५३० सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ (२।३२)

जो मनुष्य थोड़ी-सी संपत्ति को पाकर सन्तोष कर बैठता है, मैं समझता हूँ दैव भी उसके सम्बन्ध में अपनेको कृतकृत्य मानकर उसकी संपत्ति को नहीं बढ़ाता।

५३१ मा जीवन्यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ॥ (२।४५)

जो मनुष्य शत्रु के अपमान से प्राप्त हुए दुःख से दग्ध होकर भी जीता है उसका जीवन वृथा है।

५३२ सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ? (२।६२)

प्रकाश और अन्धकार एक ही स्थान में कैसे रह सकते हैं ?

५३३ आरम्भन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ (२।७९)

मूढ़ लोग छोटा कार्य आरम्भ करते हैं और उसीसे अत्यन्त घबड़ा जाते हैं (उसका पूरा नहीं कर सकते)। बुद्धिमान् लोग बड़ा काम आरम्भ करते हैं और व्याकुल नहीं होते (अर्थात् सफलता प्राप्त कर लेते हैं)।

५२४ उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः ॥ (२।८०)

कार्य-सिद्धि के उपायों में लगे हुए भी प्रमादी मनुष्य के काम नष्ट हो जाते हैं।

५२५ समयातिक्रमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥ (२।९४)

अपनी शक्ति का अतिक्रमण करके किया गया काम अत्यन्त हानि का आदिकारण होता है।

५२६ बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ॥ (२।१००)

छोटे लोग भी बड़ों की सहायता से अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं।

५२७ क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥ (४।१७)

क्षण-क्षण में किसी वस्तु को जो नवीनता अथवा अपूर्व सुन्दरता प्राप्त होती है वही रमणीयता का स्वरूप है।

५२८. अभिनिविष्टबुद्धिषु व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम् ॥ (१६।४३)

दुराग्रह से ग्रस्त बुद्धिवाले मनुष्य के प्रति कही गई अच्छी बात व्यर्थ हो जाती है।

३

नैषधीयचरित-महाकाव्य

[इस महाकाव्य के रचयिता महाकवि तथा दार्शनिक श्रीहर्ष (समय बारहवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध) थे। इनके विषय में प्रसिद्ध है— 'नैषधं विद्वदौषधम्' अर्थात् शास्त्र का पाण्डित्य इसको प्रमुख दिखा पता है।]

५३९ अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥३।९३
जल से तृप्त मनुष्य को स्वादु, सुगन्धयुक्त और ठंडी जल की धारा अच्छी नहीं लगती।

५४० पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते ॥ (३।९४)
पित्त के कारण जिह्वा के दूषित हो जाने पर मिश्री भी कड़वी लगती है।

५४१ आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ॥ (५।१०)
कुटिल लोगों के प्रति सरल व्यवहार करना अच्छी नीति नहीं है।

५४२ मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता ॥ (९।८)
संक्षिप्त और सारयुक्त वचन ही अच्छे वक्ता का लक्षण है।

ग्यारहवां अध्याय

इस अध्याय में, सात प्रकरणों में संस्कृत के कुछ सुप्रसिद्ध नाटकों (=रूपकों) से तथा सुप्रसिद्ध गद्य-लेखक महाकवियों से कुछ सुन्दर उपयोगी सुभाषित दिए गए हैं।

१
मृच्छकटिक

[इस रूपक के लेखक राजा शूद्रक कहे जाते हैं। इसका समय अनिश्चित है। कोई इसको कालिदास से पूर्व की रचना और कोई बाद की मानते हैं। इसमें वसन्तसेना और चारुदत्त के परस्पर प्रेम की कथा है।]

५४३ शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य॥ (१।८)

पुत्रहीन के लिए घर सूना होता है, जिसका कोई सच्चा मित्र नहीं है उसका समय नितरां सूना होता है, मूर्ख के लिए दिशाएं सूनी होती हैं और दरिद्र के लिए सबकुछ सूना होता है।

५४४ सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति॥
(१।१०)

घोर अन्धकार में दीप-दर्शन की भांति दुःखों का अनुभव करके ही सुख अच्छा लगता है। जो मनुष्य सुख के अनन्तर दरिद्रता को प्राप्त होता है वह वास्तव में मृत है, केवल शरीर से धारण किया हुआ सा जीता है।

५४५ दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं, दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥ (१।११)

दारिद्रय और मरण की तुलना में मुझ मरण ही अच्छा लगता है दारिद्रय नहीं। क्योंकि मरण में अल्पक्लेश होता है और दारिद्रय में अनन्त दुःख।

५४६ दारिद्रयात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृद स्फारीभवन्त्यापद ।
सत्त्व ह्रासमुपैति शीलशशिन कान्ति परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृत तत्तस्य सम्भाव्यते ॥ (१।३६)

दारिद्रय के कारण बन्धु-बान्धव लोग अपने कहने में नहीं रहते स्नेह करनेवाले मित्र विमुख हो जाते हैं आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं शक्ति कम हो जाती है शील-रूपी चन्द्रमा की शोभा म्लान हो जाती है और दूसरों द्वारा किया हुआ पाप-कर्म उसपर लगा दिया जाता है।

५४७ गुण सत्वनुरागस्य कारणं न बलात्कार ।

अनुराग (स्नेहाकर्षण) का कारण गुण होता है बलात्कार नहीं।

५४८. साहसे श्री प्रतिवसति ।

लक्ष्मी या संपत्ति साहस में रहती है।

२

उत्तररामचरित

[यह नाटक करुण-रस के उत्कृष्ट महाकवि भवभूति (समय—आठवीं श० ई० का पूर्वार्द्ध) की सुप्रसिद्ध कृति है।]

५४९ सतां सद्भि सङ्ग कथमपि हि पुण्येन भवति । (२।१)

सत्पुरुषों का सत्पुरुषों के साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध पुण्य से ही होता है।

५५० प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥ (२।२)

प्रेम-बहुल व्यवहार, विनय से मधुर वाणी का संयम,
स्वभाव से कल्याण-तत्पर बुद्धि, अनिन्दित परिचय,
परिचय के पूर्व अथवा पश्चात् एक ही रस में रहनेवाला,
सत्पुरुषों का यह रहस्य निश्छल और विशद विजय-शील होता है।

५५१ वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥ (२।७)

लोकोत्तर व्यक्तियों के वज्र से भी कठोर और फूल से भी मृदु चित्त को कौन जान सकता है ?

५५२ न किंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ (२।१०)

जो जिसका प्रियजन है वह उसका कोई अद्वितीय अमूल्य धन होता है।
बिना कुछ किए ही वह सुखों से दुःखों को भगा देता है।

५५३ अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥ (३।१७)

पति और पत्नी दोनों के अन्तःकरणों की एक आनन्द-ग्रन्थि अपत्य (=सन्तान) के रूप में बाँधी जाती है क्योंकि उसमें दोनों का स्नेह केन्द्रित रहता है।

५५४ एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ॥ (३।४७)

जैसे एक ही जल भंवर बबूला और तरङ्ग रूपी विकारों को प्राप्त होता रहता है वास्तव में तो वह सब पानी ही है ऐसे ही एक ही करुण रस निमित्तों के भेद से भिन्न-भिन्न होता हुआ पृथक्-पृथक् परिवर्तनों को प्राप्त हो जाता है।

५५५ गुणाः पूजास्थानं,
गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥ (४।११)

गुणियों का सम्मान गुणों के कारण ही होता है स्त्री-पुरुष के भेद या वयस् (=उम्र) के कारण नहीं।

५५६. ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ॥ (५।२९)

मदमत्त और अभिमानी लोगों की वाणी को ऋषिजन राक्षसी वाणी कहते हैं। वह समस्त वैरों की जननी होती है। संसार के लिए वह नरक के समान है।

५५७ कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ॥ (५।३०)

सत्य-प्रिय वाणी को विद्वान् लोग एसी गौ कहते हैं जो समस्त मङ्गलों (=कल्याणों) की माता है। वह कामनाओं की पूर्ति करती है अलक्ष्मी को दूर भगाती है कीर्ति को उत्पन्न करती है और पाप का नाश करती है।

५५८. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥ (६।१२)

कोई अज्ञात आन्तरिक कारण पदार्थों को सम्बद्ध कर देता है
प्रीतियाँ बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं होतीं।
सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाता है,
और चन्द्रमा के निकलने पर चन्द्रकान्त मणि पसीजने लगती है।

५५९ प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति ॥ (६।१०)
प्रिय पत्नी के न रहने पर समस्त संसार जंगल के समान हो जाता है।

५६० स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्षश्चेति विप्रतिषिद्धमेतत् ।
स्नेह भी हो और वह निमित्त की अपेक्षा भी करनेवाला हो ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

३

मुद्राराक्षस-नाटक

[यह नाटक महाकवि विशाखदत्त (समय अनिश्चित है) की रचना है। राजनीति प्रधान यह नाटक संस्कृत-साहित्य में अपने प्रकार का अनूठा है। इसमें चाणक्य की नीति द्वारा नन्दों के मन्त्री राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में लाने की कथा है।]

५६१ न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम् ।
साधारण शत्रु की भी उपेक्षा ठीक नहीं होती।

५६२ कीदृशास्तृणानामग्निना सह विरोधः ?
अग्नि के साथ तृणों का विरोध कैसे हो सकता है ?

५६३ हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ।
दिव्य औषधियाँ हिमवान् में हैं और सर्प सिर पर चढ़ा है।

५६४ परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ?

पराधीन पुरुष प्रीति के रस को कैसे जान सकता है ?

५६५ इह विरमयम् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते ।
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरङ्कुशः ॥

जबतक शिष्य ठीक काम करता रहता है उसे उस काम से नहीं हटाया जाता। जब वह अज्ञान-वश मार्ग को छोड़ देता है तभी गुरु उसके लिए अंकुश-समान हो जाता है (अर्थात् उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त करता है)।

४

दशकुमारचरित

[इसके रचयिता प्रसिद्ध गद्य-लेखक दण्डी हैं। अधिकतर विद्वान् सप्तम श० ई० के अन्त और अष्टम के प्रारम्भ में इनका समय मानते हैं। प्रस्तुत गद्य-ग्रन्थ में दस कुमारों की प्रेममय कथाओं का वर्णन है।]

५६६ अम्बुबुद्बुदसमाना विराजमाना सम्पत्
तडिल्लतेव सहसवोदेति, नश्यति च ।

संपत्ति जल के बुलबुले के समान होती है। वह विद्युत् की भाँति एका एक उदय होती है और नष्ट हो जाती है।

५६७ इह जगति हि न निरीहदेहिनं श्रिय संश्रयन्ते ।

इस संसार में जो यत्न नहीं करता उसको लक्ष्मी नहीं मिलती।

५६८. श्रेयांसि च सकलान्यनलसानां हस्ते नित्यसान्निध्यानि ।

जो आलसी नहीं हैं उन्हींके पास समस्त कल्याण सदा रहते हैं।

बारहवां अध्याय

इस अध्याय में भी सात ग्रंथ हैं जिनमें क्रमशः (१) कथा सरित्सागर, (२) पञ्चतन्त्र (३) हितोपदेश (४) नीतिशतक (५) वैराग्यशतक (६) दृष्टान्तमाला और (७) अमृतमन्थन —इन ग्रन्थों से उपयोगी सुन्दर सुभाषित दिए गए हैं।

१

कथासरित्सागर

[यह कश्मीर के कवि सोमदेव की रचना है। इनका समय ग्यारहवीं श० ई० का उत्तरार्ध है। इसमें परम्परागत कहानियों का हृदयाकर्षक संस्कृत-पद्य में संग्रह है।]

५८२ अप्राप्यं नाम नेहास्ति धीरस्य व्यवसायिनः।

धीर और परिश्रमी व्यक्ति के लिए इस संसार में कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है।

५८३ अश्नुते स हि कल्याणं व्यसने यो न मुह्यति।

वही कल्याण को पाता है जो आपत्ति के आने पर मोह को नहीं प्राप्त होता।

५८४ एकचित्ते द्वयोरेव किमसाध्यं भवेदिति।

दो व्यक्तियों के एक-चित्त वाले होने पर कोई वस्तु असाध्य नहीं होती।

५८५ करुणार्द्रा हि सर्वस्य सन्तोऽकारणबान्धवाः।

करुणा से आर्द्र चित्तवाले सत्पुरुष सबके अकारण बन्धु होते हैं।

५८६ कामं व्यसनवृक्षस्य मूलं दुर्जनसङ्गतिः ।
यह बिल्कुल ठीक है कि दुर्जनों का सङ्ग ही व्यसन-रूपी वृक्ष का मूल है।

५८७ त्यजन्त्युत्तमसत्त्वा हि प्राणानपि न सत्पथम् ।
उत्तम प्रकृति के मनुष्य प्राणों का भी त्याग कर देते हैं, पर सन्मार्ग को नहीं छोड़ते ।

५८८ पङ्को हि नभसि क्षिप्तः क्षेप्तुः पतति मूर्धनि ।
आकाश की ओर फेंका हुआ कीचड़ फेंकनवाले के सिर पर गिरता है।

२

पञ्चतन्त्र

[यह ग्रन्थ रमणीय और उपदेशप्रद पशुपक्षि-कथाओं द्वारा राजनीति शिक्षा के लिए अतिप्रसिद्ध है। विष्णुशर्मा इसके लेखक कहे जाते हैं। यह लगभग ३०० ई० की रचना है।]

५८९ न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
बुद्धिमान् को चाहिए कि वह थोड़े के लिए अधिक का नाश न करे।

५९० प्रकाश्य स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ।
गुणी अपने गुणों के प्रकाश से ही ख्याति को पाते हैं जन्म से क्या होता है।

५९१ पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहः ।
चुगली से स्नेह नष्ट हो जाता है।

५९२ यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।
जिसके पास बुद्धि है वही बलवान् है निर्बुद्धि के पास बल कैसे हो सकता है।

५९३ सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।
सेवारूपी धर्म अत्यन्त गहन है। योगियों के लिए भी वह कठिन है।

५९४ मृदुना सलिलेन खन्यमानान्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि ।
कोमल जल से रगड़ खाते हुए पर्वत के स्थल भी घिस जाते हैं।

५९५ दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ।
बुद्धिमान् के बाहु दीर्घ होते हैं।

५९६ यद्भविष्यो विनश्यति ।
जो आनेवाली आपत्ति का पहले से प्रतीकार नहीं करता वह नष्ट हो जाता है।

५९७ बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः ।
बहुत बलहीनों का भी समवाय (=एक हो जाना) दुर्जय होता है।

५९८ अत्यादरः शङ्कनीयः ।
अत्यधिक आदर होने पर शंका करनी चाहिए।

५९९ सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
बड़े लोग सम्पत्ति और विपत्ति में एकरूप रहते हैं।

६०० कः परः प्रियवादिनाम् ?
प्रियवादियों के लिए पराया कौन है ?

६०१ नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
नाका अपने स्थान को पाकर गजेन्द्र को भी खींच लेता है।

६०२ दुर्गते कस्यास्ति सौहृदम् ?
दुर्बल के प्रति किसका सौहार्द होता है ?

६०३ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।
जो बात अपने प्रतिकूल हैं उन्हें दूसरों के प्रति आचरण न करे।

६०४ अनागतं यः कुरुते स शोभते,
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।

जो आनेवाली अप्रिय परिस्थिति का पहले से ही प्रतीकार कर लेता है वह शोभित होता है। जो ऐसा नहीं करता वह शोक की स्थिति को प्राप्त होता है ।

६०५ सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगा ?
किस अपथ्य-सेवी को रोग नहीं सताते ?

६०६ सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः ।
सर्वनाश के उपस्थित होने पर पण्डित आधे को छोड़ देता है।

६०७ उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।
जो उदारचरित हैं उनके लिए सारी पृथ्वी कुटुम्ब के समान है।

६०८. यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।
जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है।

३
हितोपदेश

[पञ्चतन्त्र के आधार पर १४ वीं श० ई० में लिखी गई नारायण पण्डित की यह रचना है।]

६०९ उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
काम उद्यम से ही सिद्ध होते हैं मनोरथ-मात्र से नहीं।

६१० ज्ञानं भारः क्रियां विना ।

आचरण के बिना ज्ञान केवल भार होता है।

४

नीतिशतक

[इसके रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक भर्तृहरि हैं। इनका समय आदि अनिश्चित है। फिर भी प्रायेण इनका समय ६५० ई० के लगभग माना जाता है। इनके सुभाषितों का सदा से बड़ा आदर रहा है।]

६११ अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥ (३)

अज्ञ का सन्तोष सरलता से किया जा सकता है। विशेषज्ञ का सतोष और भी अधिक सरलता से किया जाता है। जो थोड़े-से ज्ञान में अपनको पण्डित समझता है ऐसे मनुष्य का संतोष या रंजन ब्रह्मा भी नहीं कर सकता।

६१२ यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥ (८)

जब मैं थोड़ा जानता था तब मैं हाथी के समान मदान्ध था। उस समय 'मैं सर्वज्ञ हूं' इस प्रकार मेरा मन गर्वित रहता था। जब मैंने विद्वानों से क्रमशः थोड़ा-थोड़ा ज्ञान पाया तब 'मैं मूर्ख हूं' इस प्रतीति से मेरा मद ज्वर के समान हट गया।

६१३ विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ (१०)

विवेक-शून्य लोगों का पतन अनेक द्वारों से होता है।

६१४ येषां न विद्या न तपो न दान
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्म ।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥ (१३)

जिनके पास न विद्या है न तप है न दान है न ज्ञान है न शील है न गुण है और न धर्म है वे इस मृत्युलोक में पृथ्वी के भारभूत है और पशु होते हुए मनुष्य-रूप से विचरते हैं ।

६१५ किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि...
सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥ (२१)

अनिन्दनीय विद्या यदि है तो धनों से क्या ?
सुकविता यदि है तो राज्य से क्या ?

६१६ जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ (२३)

बुद्धि जड़ता को हरती है वाणी म सत्य का सिंचन करती है
सम्मान की वृद्धि करती है पाप को दूर करती है
चित्त को प्रसन्न करती है दिशाओं म कीर्ति फैलाती है
कहो सत्सगति मनुष्यों के लिए क्या कुछ नहीं करती है ।

६१७ प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ (२७)

नीच लोग विघ्नो के भय से काम प्रारम्भ नहीं करते ।
मध्यम लोग प्रारम्भ करके विघ्नो के आने पर काम छोड़ देते हैं ।

बारबार विघ्नों से बाधित होने पर भी
उत्तम लोग कार्य प्रारम्भ करके नहीं छोड़ते ।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ (४१)

दान भोग और नाश—धन की ये तीन गतियाँ होती हैं। जो न देता है न भोगता है उसके धन की तीसरी गति (=नाश) होती है।

६१९ संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥ (६६)

महान् पुरुषों का चित्त संपत्ति की दशा में कमल के समान कोमल होता है, पर आपत्तियों के आने पर महान् पर्वत की शिलाओं के समूह के समान कठिन हो जाता है।

६२० पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥ (७२)

पाप से हटाता है हितकर कार्य में लगाता है
गोपनीय को गुप्त रखता है गुणों को प्रकट करता है
आपत्ति-ग्रस्त का साथ देता है समय पड़ने पर सहायता करता है—
यह लक्षण सन्मित्र का सत्पुरुष बतलाते हैं।

६२१ मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ (७९)

मन वचन और काय में सुकृत-रूपी अमृत से पूर्ण
तीनों लोकों को लगातार उपकारों से प्रसन्न करते हुए

दूसरों के छोटे-से-छोटे गुणों को सदा पर्वतों जैसा बड़ा करके अपने हृदय में प्रसन्न होनेवाले सत्पुरुष संसार में कितने हैं ?

६२२ मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥ (८२)
दृढ़ निश्चय से युक्त कार्यार्थी सुख और दुःख की परवा नहीं करता।

६२३ निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ (८४)

नीति में निपुण पुरुष चाहे निन्दा करें या प्रशंसा करें
लक्ष्मी अपनी इच्छा के अनुसार चाहे आय या चली जाय
आज ही मरण हो जाय या युगान्तर में होवे
धीर पुरुष न्याय्य पथ से एक पद भी इधर-उधर नहीं होते ।

६२४ का हानिः ? समयच्युतिः ॥ (१०३)
हानि क्या है ? समय का टाल देना ।

६२५ तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ (११०)
सत्य के व्रत में आसक्ति रखनेवाले तेजस्वी पुरुष प्राणों को भी सुख पूर्वक छोड़ देते हैं पर अपनी प्रतिज्ञा को कभी नहीं छोड़ते ।

५

वैराग्यशतक

[नीतिशतक के समान इसके रचयिता भी भर्तृहरि ही हैं।]

६२६. बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम ॥ (२)

जो योद्धा हैं वे ईर्ष्या से ग्रस्त हैं, प्रभु लोग (=अधिकारी या एश्वर्य शाली) गर्व से दूषित हैं। अन्य लोग अज्ञानी हैं। ऐसी परिस्थिति में सुभाषित (=काव्यादि की सुन्दर रचना) अपने शरीर में ही जीर्ण हो जाता है।

६२७ भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥ (१२)

भोग (सांसारिक सुख के साधन) नहीं भोगे गये किन्तु हम स्वयं भोगे गये तप नहीं तपा गया प्रत्युत हम ही तप्त हो गये। काल नहीं बीता प्रत्युत हम ही बीत गये। तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, प्रत्युत हम ही जीर्ण हो गये।

६२८ वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते॥ (१४)

झुर्रियां मुख पर आ गई हैं सिर के बाल सफेद हो गये हैं और अङ्ग शिथिल हो गये हैं। अर्थात् सब प्रकार से वृद्धत्व आ गया है। केवल एक तृष्णा तरुण होती जा रही है।

६२९ विवेकव्याकोशे विकसति शमे, शाम्यति तृषा-
परिष्वङ्गे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः।
जराजीर्णैश्वर्यग्रसनगहनाक्षेपकृपण
स्तृपापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः॥(१७)

विवेक के विकास से युक्त चित्त-शान्ति के हो जाने पर और तृष्णा के अत्युग्र प्रभाव के शान्त हो जाने पर मनुष्य के हृदय में उस आनन्दमयी अवस्था का प्रसार होता है जिसके लिए जरा से जीर्ण ऐश्वर्य से ग्रस्त होने के महान् भय से दीन भावना को अनुभव करता हुआ देवाधिपति इन्द्र भी स्पृहा करता है।

६३० वनं वा गेहं वा सदृशमुपशान्तैकमनसाम् ॥ (३३)

जिनका मन शान्त और एकाग्र है उनके लिए वन और घर दोनों समान हैं।

६३१ यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥(८६)

जबतक यह शरीर रोग से रहित और स्वस्थ है जबतक बुढ़ापा दूर है जबतक इन्द्रियों की शक्ति कम नहीं हुई है जबतक जीवन चल रहा है तभी तक विद्वान् को आत्म-कल्याण के लिए महान् प्रयत्न कर लेना चाहिए। आग से घर के जलने पर कुआं खोदने का प्रयत्न कैसा ?

६३२ भोगे रोगभयं....वित्ते नृपालाद् भयम् ।
.........गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम् ॥ (११६)

भोग में रोग का भय होता है
धन होने पर राजा का भय होता है
गुण में दुष्ट पुरुषों का भय होता है
शरीर में यमराज का भय होता है।

६

रश्मिमाला

[प्रकृत 'सुभाषित-सप्तशती' के सम्पादक तथा संग्रह-कर्ता ही इसके रचयिता हैं। इस ग्रन्थ की रचना आशावाद जैसी समुन्नत उदात्त भावनाओं की पुष्टि की दृष्टि से ही की गई है।]

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है

६३३ निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ।
तां समूलं समुत्साय ह्याशावादपरो भव ॥ (२।१)

निराशावादिनो मन्दा मोहावर्तेऽस्मिन् दुस्तरे ।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथाबलाः ॥ (२।४)

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः । (२।३)

मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए तुम्हें उस पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटाकर आशावादी बनना चाहिए।

प्रगति की भावना से विहीन निराशावादी लोग मोह के दुस्तर भंवर में पड़े हुए, दलदल में फँसी अबल गौओं के समान दुःख पाते हैं।

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है।

उदात्त चरित्र महान् पुरुष

६३४ महतामपि क्षुद्राणामन्तरायं उपस्थिते ।
ज्ञानी कनकस्येव परीक्षा जायते ध्रुवम् ॥
वातेरिताः प्रकम्पन्ते वृक्षा एव, न पर्वताः ।
आपत्तिसमये वृत्तं क्षुद्राणां महतां तथा ॥
तस्मादापत्तिकाले ये महान्तोऽन्तरवेक्षिणः ।
तिष्ठन्ति निश्चला धैर्यमूर्तयो न विकुर्वते ॥ (८।१।३)

अग्नि में जैसे स्वर्ण की परीक्षा होती है, इसी प्रकार विघ्न या बाधा के उपस्थित होने पर निश्चय रूप से महान् और क्षुद्र लोगों की परीक्षा होती है।

तेज वायु या आंधी से चलने पर वृक्ष ही काँपने लगते हैं पर्वत नहीं। आपत्ति के आने पर क्षुद्र और महान् लोगों की ऐसी ही दशा होती है। अर्थात् आपत्ति के समय क्षुद्र लोग ही घबड़ाते हैं महान् पुरुष अविचल ही रहते हैं।

इसलिए आपत्ति के समय जो अन्तरवेक्षी (विचारशील या आत्मपरीक्षक) महान् पुरुष होते हैं वे भय-मूर्ति-रूप से निश्चल ही रहते हैं और किसी प्रकार के विकार को नहीं प्राप्त होते।

मन ही सुख का कारण है

६३५ विषयानुपभुञ्जान सुखप्राप्तिधिया नरैः ।
सुखस्य कारणं स्वान्तमित्येतदवधार्यताम् ॥
समेव विषयं प्राप्य सुखदुःखे तनो नृणाम् ।
मनोऽवस्थितिभेदेन जायते इति दृश्यते ॥
अत एवाभियुक्तानां मतमेतन्मनीषिणाम् ।
आत्मायत्तं मनो यस्य स एव सुखमश्नुते ॥ (१३।१।३)

मनुष्य सुख प्राप्ति के विचार से विषयो का उपभोग करते हैं। उनको समझ लेना चाहिए कि वास्तव में सुख का कारण मन ही है।

(मन ही सुख का कारण है।) इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि एक ही विषय को पाकर मन की अवस्था के भेद से मनुष्यों को सुख और दुःख हुआ करते हैं। अर्थात् मन की अवस्था के भेद से एक ही वस्तु हमें कभी सुखद और कभी दुःखद हो जाती है।

इसीलिए विचारशील विद्वानों का यह मत है कि वही मनुष्य सुख पाता है जिसने अपने मन को अधिकार में कर रखा है।

६३६ दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवो गतिमात्मन ।
आश्चर्यं मूढताबोधाद् दीनं हीनं च मन्यते ॥ (१६।१)

मनुष्य आत्मा की (अथवा अपनी) प्रगति या उन्नति के अनन्त प्रसार (=विस्तार) को देखकर भी आश्चर्य है अज्ञान के दोष के कारण अपने को दीन और हीन समझता है।

६३७ यदतीतमतीतं तत संदिग्धं यदनागतम् ।
सस्माद् यत्प्राप्तकालं तन्मानवैस विधीयताम् ॥ (१९।१)

जो हो चुका है वह तो हो ही चुका है। जो आनेवाला है वह सन्देह ग्रस्त है। इसलिए मनुष्य को वही काम करना चाहिए जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है।

६३८. यत्कर्मकरणमात्मसन्तोषं लभते नरः ।
वस्तुतस्तद्धनं मन्ये न धनं धनमुच्यते ॥ (२६।१)

जिस काम के करने से मनुष्य की अन्तरात्मा को संतोष होता है मैं वास्तविक धन उसीको मानता हूं। लौकिक धन को धन नहीं कहा जाता।

६३९. निधानं सर्वरत्नानां हेतुः कल्याणसंपदाम् ।
सर्वस्या उन्नतेर्मूलं महतां सङ्ग उच्यते ॥ (३८।१)

महान् पुरुषों का संग समस्त उत्कृष्ट अमूल्य पदार्थों का आश्रय कल्याण संपत्तियों का हेतु और सारी उन्नति का मूल कहा जाता है।

६४० लोकेऽत्र जीवनमिदं परिवर्तशीलं
दृष्ट्वा विभावय सखे ! ध्रुवसत्यमतत् ।
रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजालिः' ॥ (४३।१)

संसार में यह जीवन परिवर्तन-शील है
यह देखकर अयि मित्र !
इस ध्रुव सत्य का सदा ध्यान रखो कि—
'रात्रि बीत जायगी
प्रातःकाल होगा
सूर्यदेव का उदय होगा
और कमलों की पंक्ति खिलकर हँसेगी'

अर्थात् आपत्ति के समय का अन्त अवश्य होगा और अच्छा समय लौटेगा इसका विश्वास सबको रखना चाहिए।

७

अमृतमन्थन

[पूर्वोक्त रश्मिमाला के समान यह रचना भी प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक की है। इसका विषय भी प्राय उसीके समान है।]

६४१ सुरम्यं कुसुमं दृष्ट्वा यथा सर्वः प्रसीदति ।
प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा तथा त्वं मुदमाप्नुयाः ॥ (८।१)

सुन्दर फूल को देखकर जैसे सब कोई प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही दूसरों को प्रसन्न देखकर तुमको प्रसन्नता होनी चाहिए।

६४२ यथा हि लौकिकाः स्वीयं धनं रक्षन्त्यतन्द्रिताः ।
चारित्र्यस्य तथा रक्षा विधेयोत्कर्षमिच्छता ॥ (८।३)

जैसे सांसारिक लोग बड़ी सावधानी से अपने धन की रक्षा करते हैं उसी तरह, जो अपना उत्कर्ष चाहता है उसे चारित्र्य की रक्षा करनी चाहिए।

६४३ चारित्र्यं नरवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम् ।
आकर्षण तर्पयति लोकानां रञ्जनं महत् ॥ (८।२)

चारित्र्य मनुष्य-रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। सुन्दर सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और सबको प्रसन्नता प्रदान करता है।

६४४ जीवनेऽस्मिन् महाँल्लाभः स्वान्तस्तोषो निगद्यते ।
स्वस्यान्तरात्मना सार्धमविरोधे तदिष्यते ॥ (१३।१)

इस जीवन में सबसे बड़ा लाभ अपनी अन्तरात्मा का सन्तोष ही है। अन्तरात्मा के साथ मनुष्य के अविरोध से ही वह प्राप्त होता है।

यह शरद् ऋतु में गरजता है पर बरसता नहीं। यह बिना शब्द के ही वर्षा ऋतु में बरसता है। इसी प्रकार नीच मनुष्य केवल कहता है करता नहीं परन्तु साधु बोलता नहीं केवल करता है।

६५१ अहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम्।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्त्यपि॥

महापुरुषों के चरित्र विचित्र ही होते हैं। वे लक्ष्मी को तृण के समान समझते हैं पर लक्ष्मी के भार से नम भी जाते हैं।

६५२ यथा चित्तं तथा वाचो यथा वाचस्तथा क्रिया।
चित्ते वाचि क्रियायां च साधूनामेकरूपता॥

जैसा चित्त वैसे वचन जैसे वचन वैसी ही क्रिया। साधुओं के चित्त वचन और क्रिया में एकरूपता होती है।

६५३ उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम्।
सज्जनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः॥

उपकार करना प्रिय बोलना और स्वाभाविक स्नेह करना—यह सज्जनों का स्वभाव है। चन्द्रमा को किसने शीतल किया है? अर्थात् वह स्वभाव से ही शीतल है।

६५४ प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥

जिस प्रकार हम सबको अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार अन्य प्राणियों को अपने प्राण प्यारे हैं। इसीलिए साधु पुरुष अपनी उपमा के आधार पर प्राणियों पर दया करते हैं।

६५५ उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥

सूर्य उदय के समय लाल होता है और अस्त के समय भी लाल होता है। इसी प्रकार महान् पुरुष संपत्ति में और विपत्ति में एक-सा ही रहते हैं।

६५६ आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयो: ॥

जैसे किसी ऊँचे स्थान पर शिला बड़े यत्न से चढ़ाई जाती है और नीचे क्षणभर में गिरा दी जाती है, ऐसे ही गुण और दोष के विषय में आत्मा की स्थिति है ।

६५७ यात्यधोऽध: व्रजत्युच्चैर्नर: स्वरेव चेष्टितै: ।
अध: कूपस्य खनक ऊर्ध्वं प्रासादकारक: ॥

मनुष्य अपने ही कामों से नीचे चला जाता है और ऊपर चढ़ जाता है । कुएँ को खोदने वाला नीचे की ओर उतरता जाता है और प्रासाद का बनाने वाला ऊपर की ओर चढ़ता जाता है ।

६५८. आत्मायत्ते गुणग्रामे नैर्गुण्यं वचनीयता ।
दैवायत्तेषु वित्तेषु पुंसां का नाम वाच्यता ॥

गुणों का धारण करना मनुष्य के अपने हाथ में है । ऐसी अवस्था में मनुष्य का गुणों से रहित होना निन्दनीय है । वित्त के विषय में तो मनुष्यों के लिए कोई निन्दनीयता की बात नहीं है क्योंकि धन तो भाग्य के अधीन होता है ।

६५९ प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मन: ।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति ॥

'मुझमें कौन-सी बात पशुओं जैसी है और कौन-सी सत्पुरुषों जैसी' मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र का इस प्रकार अन्त:समीक्षण करना चाहिए ।

६६० यदि सन्ति गुणा: पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकामोद: शपथेन विभाव्यते ॥

मनुष्यों में यदि गुण होते हैं तो उनका प्रकाश स्वयं हो जाता है । कस्तूरी की सुगन्ध को शपथ से सिद्ध नहीं किया जाता है ।

६६१ अद्यापि दुर्निवारं स्तुतिकन्या वहति कौमारम् ।
सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तस्तस्यै न रोचन्ते ॥

स्तुति-रूपी कन्या आज भी दुर्निवारणीय कौमार (=कुंआरेपन) का धारण करती है। (इसका कारण यह है कि) सत्पुरुष तो उसको पसन्द नहीं करते और असत्पुरुष उसको अच्छे नहीं लगते।

६६२ गुणानर्चन्ति जन्तूनां न जातिं केवलं क्वचित् ।
स्फाटिकं भाजनं भग्नं काकिण्यापि न गृह्यते ॥

लोग जन्तुओं के गुणों का सम्मान करते हैं केवल जाति का कहीं भी नहीं। टूटा हुआ स्फटिक का बर्तन कौड़ी के दाम भी नहीं लिया जाता।

६६३ किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥

कुल के कहने से क्या होता है ? इस संसार में शील ही सफलता का मुख्य कारण है। अच्छे खेत में (भी) कटेरी के पौधे अत्यन्त विस्तार से होते हैं।

६६४ कस्यापि कोऽप्यतिशयोऽस्ति स तेन लोके
ख्यातिं प्रयाति न हि सर्वविदस्तु सर्वे ।
किं केतकी फलति किं पनसः सुपुष्पः
किं नागवल्ल्यपि च पुष्पफलैरुपेता ॥

किसीकी कोई विशेषता होती है उसीसे उसकी ख्याति लोक में फैल जाती है। कोई भी सर्वज्ञ अथवा सर्वगुण-सम्पन्न नहीं होता। क्या केवड़े पर फल लगता है ? क्या कटहर पर फूल आते हैं ? क्या पान की बेल पर फूल और फल लगते हैं ?

६६५ जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव
येषां प्रसादात्सुविचक्षणोऽहम् ।

यदा यदा मे विकृतिं समस्ते
तदा तदा मां प्रतियाधयन्ति ॥

मेरे शत्रुगण सदा जीवित रहें जिनकी कृपा से मैं विशेषतया बुद्धिमान् बन सका हूं। वे जब-जब मेरे दोष को पाते हैं तभी मुझे सावधान कर देते हैं।

६६६ अनापद्यावमाभाग न जुगुप्सेत चात्मनि ।
आमीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरङ्कुशः ॥

केवल दूसरों द्वारा अपनी निन्दा सुनकर मनुष्य अपनेको निन्दित न समझे। वह स्वयं अपने को जाने क्योंकि लोक तो निरंकुश है, जो चाहता है सो कह देता है।

६६७. विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वाधाराः महाजना ॥

दुर्भाग्य के उपस्थित होने पर और प्रयत्नों के विफल हो जाने पर भय और उत्साह से सम्पन्न व्यक्ति अपने को दुखी नहीं करते।

६६८. चलन्तु गिरयः कामं युगान्तपवनाहताः ।
कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चितं मनः ॥

प्रलयकाल के पवन से ताड़ित होकर पर्वत भले ही अपने स्थान से हट जाएं, पर धीर मनुष्यों का निश्चय घोर कष्ट के आ जाने पर भी विचलित नहीं होता।

६६९ अङ्गणवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

अपनी प्रतिज्ञा के पालन में दृढ़ वीर पुरुष के लिए पृथ्वी आंगन की वेदी के समान, समुद्र एक नाली के समान पाताल समतल भूमि के समान, और सुमेरु पर्वत बांबी के समान हो जाते हैं। अर्थात् उसके लिए कठिन से-कठिन काम अति सरल हो जाते हैं।

६७० उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

लक्ष्मी उद्योगी पुरुष-सिंह के ही पास आती है
'भाग्य में जो है वही मिलेगा' ऐसा कायर पुरुष कहते हैं।
अतः भाग्य को छोड़कर अपनी शक्ति से पौरुष करो
यत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध नहीं होता तो तुम्हारा क्या दोष है?

६७१ उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥

'मेरा कार्य अवश्य ही सिद्ध होगा' ऐसा दृढ़ निश्चय करके मनुष्य को आलस्य छोड़कर उठना चाहिए और जागना चाहिए और प्रसन्नता तथा आशावाद के साथ उन्नति के कार्मों में जुट जाना चाहिए।

६७२ शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः ।
बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किञ्चन दुष्करम् ॥

जो शरीर की परवा नहीं करता, जो निपुण और व्यवसायी है, जो बुद्धि पूर्वक कार्य प्रारम्भ करता है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

६७३ यो यमर्थं प्रार्थयते यदर्थं घटतेऽपि च ।
अवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥

जो जिस ध्येय को चाहता है और जिसके लिए प्रयत्न करता है उसको वह अवश्य पा लेता है यदि श्रान्त होकर उसको छोड़ नहीं देता है।

६७४ नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न शठा न च मायिनः ।
न च लोकरवाद्भीता न च शश्वत्प्रतीक्षिणः ॥

आलसी लोग अपने इष्ट लक्ष्य को नहीं प्राप्त करते। इसी प्रकार जो डरपोक हैं अभिमानी हैं लोकप्रवाद से डरते हैं और सदा केवल प्रतीक्षा करनेवाले हैं वे भी अपने लक्ष्य को नहीं पाते।

६७५ न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥

संशय (=जोखिम) में अपनेको डाले बिना मनुष्य भलाइयों को नहीं देखता। संशय में अपने को डालकर यदि जीता है तो देखता है।

६७६ सहृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥

आर्य पुरुष गिरते हुए भी गेंद के गिरने के समान एक बार गिरता है (अर्थात् गिरते ही तत्काल पुनः उठ जाता है)। मूर्ख तो मिट्टी के ढले के समान गिरता है (अर्थात् गिरते ही चूर चूर हो जाता है)।

६७७ अफलानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च ।
अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः ॥

समझदार मनुष्य ऐसे कामों को प्रारम्भ न करे जिनका कोई फल न हो जिनका अन्त बुरा हो जिनके करने में व्यय और फल समान हों और जो अशक्य हों।

६७८. धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥

धृति क्षमा दया पवित्रता करुणा अकठोर वाणी और मित्रों के साथ द्रोह न करना—ये सात श्री की समिधाएँ हैं (अर्थात् इन सात गुणों से मनुष्य की शोभा अथवा समृद्धि बढ़ती है)।

६७९ उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत् ॥

उद्यम साहस धैर्य बुद्धि शक्ति और पराक्रम—जिसमें ये छ गुण रहते हैं परमेश्वर उसकी सहायता करते हैं।

६८० जलमभ्यासयोगेन शलानां कुरुते क्षयम् ।
कठिनानां मृदुस्पर्शं किमभ्यासान्न साध्यते ॥

अभ्यास के सहयोग से कोमलस्पर्शी जल कठोर पत्थरों का क्षय कर देता है। अभ्यास से किस वस्तु की सिद्धि नहीं होती ?

६८१ गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ।

लोग एक-के-पीछे-एक चलनेवाले होते हैं। वे वास्तविकता को नहीं देखते।

६८२ सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद् वृन्दमवसीदति ॥

जहाँ सब नेता बनना चाहते हैं सब अपनको पण्डित समझते हैं सब अपना-अपना महत्त्व चाहते हैं वह मनुष्य-समुदाय नष्ट हो जाता है।

६८३ लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति प्रायेण परवेदनाम् ।

धन और ऐश्वर्य से संपन्न लोग प्रायण दूसरों की पीड़ा का अनुभव नहीं करते।

६८४ तदेवास्य परं मित्रं यत्र संक्रामति द्वयम् ।
दृष्टे सुखं च दुःखं च प्रतिच्छायेव दर्पणे ॥

किसी मनुष्य का परम मित्र वही है जिसके दर्शन पर, दर्पण में किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब के समान वह अपने सुख और दुःख को उसमें संक्रान्त कर देता है।

६८५ इक्षोरग्रात् क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानाञ्च विपरीता ॥

गन्ने के अग्रभाग से लेकर जैसे प्रत्येक पर्व (=टुकड़े) में क्रमशः रस में विशेषता होती जाती है वैसे ही सज्जनों की मित्रता क्रमशः बढ़ती है। जो सज्जन नहीं हैं उनकी मित्रता इससे विपरीत होती है।

६८६ अवज्ञास्फुटितं प्रेम समीकर्तुं क ईश्वरः ।
सन्धिं न याति स्फुटितं लाक्षालेपेन मौक्तिकम् ॥

अपमान से फटे हुए प्रेम को कौन जोड़ सकता है ? टूटा हुआ मोती लाख के लेप से नहीं जुड़ता।

६८७ अप्रगल्भस्य या विद्या कृपणस्य च यद्धनम् ।
यच्च बाहुबलं भीरोर्व्यर्थमेतत्त्रयं भुवि ॥

अप्रतिभाशाली की विद्या सूम का धन और भीरु का बाहुबल—पृथ्वी पर ये तीनों व्यर्थ हैं।

६८८ धनमस्तीति वाणिज्यं किञ्चिदस्तीति कर्षणम् ।
सेवा न किञ्चिदस्तीति भिक्षा नैव च नैव च ॥

धन होने पर वाणिज्य करना चाहिए। थोड़ा धन हो तो कृषि करनी चाहिए। कुछ भी धन न होने पर सेवा करनी चाहिए। भिक्षा तो कभी भी न करनी चाहिए।

६८९ इदमेव हि पाण्डित्यं चातुर्यमिदमेव हि ।
इदमेव सुबुद्धित्वमायादल्पतरो व्ययः ॥

यही पाण्डित्य है यही चतुरता है यही बुद्धिमत्ता है कि मनुष्य अपनी आय से व्यय बहुत कम करे।

६९० इतरतापशतानि यथेच्छया
वितर तानि सहे चतुरानन !
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥

हे चतुरानन ! (ब्रह्माजी !) आप अपनी इच्छा के अनुसार अन्य सकड़ों दुखों का दें म उनको सह लूंगा। परन्तु अरसिक जनों के प्रति कविता का निवेदन करना मेरे भाग्य में न लिखिए कभी भी न लिखिए।

६९१ कः कालः कानि मित्राणि को देशः को व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

कसा समय है ? कौन-कौन मित्र हैं ? कसा देश है ? क्या आमदनी है ? क्या व्यय है ? मेरा क्या स्वरूप है ? और मेरी शक्ति कितनी है ? मनुष्य को समय-समय पर इन बातों पर विचार करना चाहिए।

६९२ यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत्।
जो जिस कार्य में कुशल है उसको उसी कार्य में लगाना चाहिए।

६९३ नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्॥

जसे एक नागरिक नगर के कामों में अथवा एक रथी रथ की देख-भाल में सावधान रहता है, इसी प्रकार बुद्धिमान् को चाहिए कि वह अपने शरीर के कार्यों में सावधान रहे।

६९४ कातरा एव जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति।
साहसहीन व्यक्ति ही कहा करते हैं कि जो भाग्य में है वही होगा।

६९५ शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स एव।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम्।

शास्त्रों को पढ़कर भी मूर्ख होते हैं। किन्तु जो शास्त्र के अनुसार आचरण करता है वही वास्तव में प्रशंसनीय है। रोगियों के लिए अच्छी

तरह सोचकर निश्चित की हुई औषध भी नाम लेने मात्र से नीरोग नहीं करती है ।

६९६ नाधर्मश्चिरमृद्धये ।

अधर्म से चिरकालीन समृद्धि नहीं प्राप्त होती ।

६९७ अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अठारहों पुराणो में व्यास के दो ही वचन मुख्य हैं—परोपकार से पुण्य होता है और परपीडन से पाप ।

६९८. येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिन ।
सतोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम् ॥

जिस किसी प्रकार से जिस किसी प्राणी को विद्वान् संतोष दे सके—वास्तव में यही ईश्वर की पूजा है ।

६९९. परोपकाराय सतां विभूतय ।

सत्पुरुषों की सारी विभूतियाँ (=ऐश्वर्य आदि) परोपकार के लिए होती हैं ।

७०० सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग्भवेत् ॥

सब सुखी हों !
सब रोगरहित हों !
सब कल्याणों का प्राप्त हों !
कोई भी दुखभागी न हो !

●

सुभाषित-सूची

(अकारादि क्रम से)

विषय-निर्देशिका